2. भक्तिकाल

(सन् 1318 से 1643 ई० तक)

पूर्वपीठिका

भारतीय धर्म–साधना के इतिहास में भक्ति मार्ग का विशिष्ट स्थान है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने धर्म की भावात्मक अनुभूति को भक्ति कहा है। उनके अनुसार भक्ति का सूत्रपात महाभारत काल में और प्रवर्तन पुराण काल में हुआ। यद्यपि भक्ति के बीज वेदों में ढूँढ़े जा सकते हैं। वेदकाल के देवी–देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। वेदों का मानव इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि आदि देवी–देवताओं का आह्वान करता हुआ दिखाई देता है। उपनिषद युग में मानव का ध्यान प्रकृति शक्ति की अपेक्षा परमशक्ति ब्रह्म की ओर अधिक गया। विभिन्न प्रकृति देवताओं के स्थान पर त्रिदेव–ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उपासना का अधिक प्रचार हुआ। वेदोत्तर काल में व्यक्तिगत देवताओं की उपासना शुरू होने पर भक्ति की संकल्पना भी पैदा हुई। महाभारत में ज्ञान और कर्म के साथ–साथ भक्ति को भी मोक्ष का एक मार्ग माना गया है।

इस तरह भारत में प्राचीन काल से ही धर्म और मोक्ष की साधना के लिए तीन मुख्य मार्ग प्रचलित रहे हैं–कर्म, ज्ञान तथा भक्ति। इनमें से कभी कर्म की प्रधानता रही, कभी ज्ञान की और कभी भक्ति मार्ग की। उपनिषद् काल में ज्ञान की प्रधानता थी जबकि ब्राह्मण काल में कर्म की। ब्राह्मण काल में कर्म पर इतना अधिक बल दिया गया कि कर्मकांड के विस्तार और उनकी विकृतियों के विरुद्ध फिर से ज्ञान और निवृत्ति मार्ग को लेकर बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ। ब्राह्मण काल में आकर यज्ञ में हिंसा और पाखंड की प्रबलता हो गई। इसलिए बौद्ध एवं जैन धर्म वैदिक संस्कृति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आया। कालान्तर में बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म ज्यो–ज्यों प्राचीन होता गया त्यों–त्यों उसमें भी वैदिक कर्मकांड का प्रवेश होता गया तथा रूढ़िवादिता बढ़ती गई। वे निरर्थक अनुष्ठानवाद में लिप्त हो गए थे तथा लोगों की भावनात्मक आवश्यकओं की पूर्ति कर पाने में समर्थ नहीं रह गए थे।

वैदिक भक्ति परंपरा के सामानांतर दक्षिण भारत में द्रविड़–संस्कृतगर्भित पृथक भक्ति परंपरा का सूत्रपात हो चुका था। यह परंपरा ईसा–पूर्व कई शताब्दियों से चली आ रही थी। छठी सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर दसवीं सदी तक दक्षिण भारत में अनेक संतो ने भक्ति–आंदोलन का विस्तार किया। इन संतो की भक्ति विशुद्ध प्रेम पर आधारित थी। ये संत नयनार (जो शिव के भक्त थे) और आलवार (जो विष्णु के भक्त थे) के नाम से प्रसिद्ध हुए। नयनार एवं आलवार संतो ने जैनियों और बौद्धों के अपरिग्रह को अस्वीकार कर ईश्वर के प्रति व्यक्तिगत भक्ति को मुक्ति का मार्ग बतलाया। इन संतों में ब्राह्मण के साथ–साथ अन्य जातियों के भी कई संत थे। इन संतों का प्रेम–पूर्ण भक्ति का संदेश किसी एक वर्ग के लिए नहीं था। सभी लोग इस भक्ति को ग्रहण कर सकते थे भले ही उनकी जाति, परिवार अथवा लिंग जो भी हो। इस आंदोलन को कई स्थानीय शासकों का भी समर्थन प्राप्त हुआ। लोगों के विश्वास और स्थानीय शासकों के समर्थन से यह आंदोलन पूरे दक्षिण भारत में फैल गया। आगे चलकर रामानुजाचार्य ने अपने विशिष्टाद्वैतवादी

दर्शन के माध्यम से आलवारों की भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया जिससे वह नए युग की चुनौतियों का मुकाबला करने में सक्षम हुई। रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क, विष्णुस्वामी आदि वैष्णवाचार्यों ने शंकराचार्य की अद्‌वैत वेदांती व्यवस्था से असहमति व्यक्त करते हुए भक्ति का प्रपत्ति–मार्गी दर्शन निर्मित किया। जिसमें शरणागति एवं समर्पण भाव की प्रधानता है। 11वीं से 13वीं शताब्दी के मध्य इन वैष्णवाचार्यों ने अपनी लंबी यात्राओं से दक्षिण–उत्तर को सांस्कृतिक स्तर पर जोड़ने का प्रयत्न भी किया एवं भक्ति की विस्तृत भावभूमि तैयार की।

रामानुज की ही परंपरा में रामानंद (1300ई.के आसपास) हुए जिनके बारे में कहा जाता है कि वे भक्ति को दक्षिण से उत्तर लाए। भक्ति एक प्रवृत्ति के रूप में रामानुजाचार्य से पहले भी थी, किन्तु वह साधना पद्धति मात्र थी, आंदोलन नहीं। ऐतिहासिक स्थितियों की अनुकूलता में वह प्रवृत्ति व्यापक एवं तीव्र होकर धार्मिक आंदोलन बन गई। रामानुजाचार्य ने इस आंदोलन को वैचारिक आधार प्रदान किया, इसके बिना भक्ति आंदोलन नही बन सकती थी। इस धार्मिक और साहित्यिक आंदोलन ने हिन्दी साहित्य को कबीर, सूर, तुलसी और मीरा जैसे कवि दिए। इनकी कविताएँ इतनी लोकप्रिय एवं उत्कृष्ट हैं कि भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता हैं।

भक्तिकालीन कवियों की कविता का स्वर मानवतावादी है। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण ही भक्त कवियों ने संकीर्ण मनोवृत्ति से उपर उठकर मानव जीवन को बेहतर बनाने के लिए जनता को प्रेरित किया। विभिन्न वर्ग एवं वर्णों के वितण्डावादी स्वरूप, वर्ग–संघर्ष, धार्मिक भेदभाव, विधि निषेधों से जर्जरित भारतीय जीवन में भक्ति आंदोलन मनुष्य सत्य के स्वप्न को संजोता है। यह आंदोलन रूढ़िग्रस्त समाज और उसकी अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध आक्रोश तथा जिजीविषा की तीव्रतम अभिव्यक्ति थी। इस प्रकार मध्यकालीन भक्ति काव्य मूलतः सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में सामने आता हैं जिसमें भक्ति साधना का नही बल्कि भावना का विषय बन गई थी।

भक्तिकालीन परिवेश

इतिहास के क्रम में प्रत्येक कालखण्ड अपने पूर्व–परंपरा के व्यापक योगदान तथा अतीत की विभिन्न घटनाओं और उसके प्रभावों को आत्मसात करने के बाद भी मानवीय जीवन के संघर्षों, सुख–दुःखों, आशा–आकांक्षाओं और बेहतर भविष्य की कामना से बुने गए स्वप्नों के संदर्भ में अपने युगीन परिवेश से गहराई से जुड़ा रहता है। भक्तिकाल भी इसका अपवाद नहीं है अतः यहाँ भक्तिकाल की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना उपयोगी होगा।

राजनीतिक परिस्थिति

राजनैतिक दृष्टि से भक्तिकाल का विस्तार मुख्य रूप से सल्तनत काल के तुगलक वंश से लेकर मुगल वंश के बादशाह शाहजहाँ के शासन काल तक है। दिल्ली सल्तनत का इतिहास तुर्क–आक्रमणकारी मुहम्मद गोरी के द्वारा भारत पर आक्रमण से शुरू होता है। राजपूत राजाओं की परस्पर फूट तथा शत्रुता के कारण पृथ्वीराज चौहान मुहम्मद गौरी के हाथों तथा जयचंद्र कुतुबुद्‌दीन ऐबक के द्वारा मारा गया। इसके पश्चात् ही दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। तेहरवीं सदी के अंत तक दिल्ली सल्तनत का विस्तार न सिर्फ मालवा और गुजरात तक, बल्कि दक्कन

और दक्षिण भारत तक हो गया। साम्राज्य के विस्तार एवं केन्द्रीकरण की नीति की शुरूआत अलाउद्दीन खिलजी (1296–1316 ई.) के द्वारा हुई एवं मुहम्मद बिन तुगलक (1324–1351ई.) के काल में यह नीति अपने चरम पर पहुँच गई थी। बाद में सैयद वंश के लोदी सुल्तान इब्राहिम लोदी को बाबर ने पानीपत की लड़ाई (1526 ई.) में हराकर मुगलवंश की स्थापना की। 1556 ई. में बाबर के पुत्र हुमायूँ की मृत्यु के बाद मुगल शासन की बागडोर अकबर (1556–1605) को मिली जिसने विशाल और स्थिर मुगल साम्राज्य की स्थापना की। अकबर के बाद 17 वीं सदी का पूर्वाद्ध कुल मिलाकर प्रगति और विकास का काल था। इस अवधि में मुगल साम्राज्य जहाँगीर (1605–1627 ई.) तथा शाहजहाँ (1628–1658ई.) इन दो शासकों के कुशल नेतृत्व में रहा। शाहजहाँ के अंत के साथ ही हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल की भी समाप्ति हो गई। इसके बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल का दौर शुरू हो गया।

आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थिति

तुर्कों के द्वारा भारत में शासन कायम करने से लेकर शाहजहाँ तक के राजनीतिक इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य केंद्रीकृत शासन व्यवस्था है। इन शासकों ने शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए केंद्रीय प्रशासन और स्थानीय प्रशासन की व्यवस्था की। साम्राज्य को विभिन्न सूबों में फिर सूबों को शिक में विभाजित किया गया। शिक के नीचे परगने होते थे। गाँव में खुत, मुकद्दम पटवारी के माध्यम से भू–राजस्व की वसूली की जाती थी। इस तरह केन्द्र से लेकर गाँव तक एक सूचारू व्यवस्था कायम हुई। आर्थिक स्थिति की बेहतरी एवं व्यापार को बढ़ावा देने के लिए इसी दौर में दिल्ली, आगरा, बनारस, इलाहबाद, पटना आदि शहरों का विकास हुआ। ये शहर आगे चलकर व्यापार के प्रमुख केंद्र बने। इसके साथ ही बड़े पैमाने पर सड़क निर्माण, यात्रियों के ठहरने के लिए सराय की व्यवस्था, अनेक किलों एवं भवनों का निर्माण आदि का कार्य दिखाई देते हैं, जिसके परिणामस्वरूप राजमिस्त्री एव पत्थर तराशियों की माँग बढ़ जाती है। कुल मिलाकर देखें तो इस काल में नए शिल्पी वर्ग का उदय होता हैं जिनमें ज्यादातर अवर्ण काम करते थे। आर्थिक स्थिति बेहतर होने पर उनमें सामाजिक मर्यादा की स्वीकृति की भावना पैदा हुई। निर्गुण पंथ के उदय और उसमें अवर्ण संतों के इतनी अधिक संख्या में आने का कारण यही है।

भक्ति काल आने तक वर्ण व्यवस्था यद्यपि चरमराने लगी थी फिर भी उसका प्रभाव काफी था। वर्ण–व्यवस्था और जातिगत ऊँच–नीच की भावना ने पूरे समाज को बाँट रखा था। आचार–विचार की पवित्रता का स्थान स्वार्थ और पाखंड ने ले लिया था। शूद्रों के साथ अछूत का व्यवहार जारी रहा। स्वयं मुस्लिम समाज भी नस्ल और जातिगत वर्गों में विभाजित रहा। मुसलमानों में श्रेष्ठता की भावना, पारस्परिक विवाहों का धार्मिक निषेध और एक साथ बैठकर भोजन न करने के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सामाजिक मेल मिलाप अधिक नही था। मुगलवंश की स्थापना के बाद और विशेषकर अकबर के समय में इस स्थिति में काफी सुधार आया। दूसरी ओर ग्रामीण समाज एवं किसानों की स्थिति काफी दयनीय थी। बार–बार उन्हें अकाल का सामना करना पड़ता था। जमींदार एवं व्यापारी वर्ग की तुलना में उनकी स्थिति बहुत खराब थी। जमींदारों

के द्वारा किसानों का शोषण होता था। अकाल और भूख की पीड़ा का मार्मिक चित्रण तुलसीदास ने किया है –'कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै' या 'नहीं दरिद्र सम दुख जग माही।' तुलसी ग्रामीण चेतना के कवि है। उनका साहित्य तात्कालीन ग्रामीण समाज की दशा का दस्तावेज है– 'खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि। बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।'

धार्मिक परिस्थिति

उत्तर भारत में तुर्कों का आगमन तथा दिल्ली सल्तनत की स्थापना, विकास और खलबली दोनों साथ लेकर आया। विजय के आरंभिक चरण में अनेक शहरों को लूटा गया और मंदिरों को तोड़ा गया। कई मंदिरों को तोड़कर मस्जिद में परिवर्तित कर दिया गया। हिन्दुओं और जैनियों आदि के पूजास्थल के प्रति उनकी नीति मुस्लिम कानून (शरीयत) पर आधारित थी। जो अन्य धर्मों के नए पूजा स्थलों के निर्माण की इजाजत नहीं देता फिर भी गाँव में जहाँ इस्लाम का प्रचार नहीं था, मंदिर के निर्माण पर कोई प्रतिबंध नहीं था। धर्म परिर्वतन कर इस्लाम स्वीकार करने का कारण राजनीति और धार्मिक लाभ की आशा अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने की ललक थी। कभी–कभी कोई प्रसिद्ध शासक या जनजाति का प्रधान धर्म परिर्वतन करता था तो उसकी प्रजा उसका अनुकरण करती थी। इसी दौर में हिन्दु और मुसलमान दोनों में कुछ कट्टर लोग धर्माधंता फैला रहे थे। इस सबके बाबजूद पारस्परिक सामंजस्य और मेल मिलाप की धीमी प्रक्रिया भी आरंभ हुई। यह प्रक्रिया वास्तुकला, साहित्य, संगीत आदि क्षेत्रों में अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देने लगी। आगे–चलकर यह प्रक्रिया धर्म के क्षेत्र में भक्ति आंदोलन और सूफीवाद के रूप में दिखाई देने लगी एवं मुगल काल (16–17 वी सदी) में काफी प्रबल हो गई। भक्ति आंदोलन के कवियों की मानवतावादी दृष्टि ने इस भेदभाव को कम करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सांस्कृतिक परिस्थिति

सांस्कृतिक चेतना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वभौम सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित धार्मिक भावना और दार्शनिक चिन्ताधारा के माध्यम से हुई है। कला, शिल्प, साहित्य और संगीत इन्हीं की आनुषंगिक उपलब्धियाँ है। इन सबका क्षेत्र विशाल मानव समाज है जिसकी प्रेरणा और प्रसाद से मनुष्य जीवन–यापन करता है। भारतीय जीवन में समय–समय पर विदेशी और विजातीय तत्त्वों के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं। परंतु इन्हीं से होकर ऐसी जीवनी–शक्ति का संचार भी होता रहा कि हम डूबते–डूबते भी उबरते चले आए हैं, निष्प्रभ या निस्तेज न होकर नवजीवन की अरुणिमा से महिमा मंडित होते रहे हैं। उन सबके मूल में हमारी समन्वय साधना की प्रवृत्ति प्रधान रही है। इसे हम मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के सन्दर्भ में समझ सकते हैं। इस दौर में हिन्दू समाज शास्त्रीय विधान और पौराणिक विश्वासों को साथ लेकर जी रहा था। शंकर के मायावाद के विरुद्ध वैष्णवाचार्यों ने जिस भक्ति दर्शन के रूप में लीलावाद एवं अवतारवाद को स्वीकार किया, वह जगत को मिथ्या न मानकर परमसत्ता की सगुण–साकार अभिव्यक्ति रूप में है।

यहाँ परमसत्ता के साथ मनुष्य के संबंध का माध्यम भक्ति बनी। इसी से प्रेरणा ग्रहण कर भक्त कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से जाति एवं संप्रदाय के भेदभाव को अस्वीकार कर प्रेम के धरातल पर मनुष्य मात्र की समानता एवं एकता को स्थापित किया। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान इस सांस्कृतिक वातावरण में एक दूसरे के काफी निकट आए।

भक्ति का प्रभाव मध्यकाल की सभी सांस्कृतिक गतिविधियों में देखा जा सकता है। इस काल के संगीतकार प्रायः भक्त भी हैं, जैसे स्वामी हरिदास। मूर्ति, चित्र, नृत्य सभी का विषय प्रधानतः भक्ति या भक्त है। विभिन्न कलाओं में राधाकृष्ण की लीलाएँ अधिक लोकप्रिय है। रामलीला भी अत्यंत लोकप्रिय हैं। कह सकते हैं कि जिस प्रकार का हिन्दी साहित्य का भक्तिकाव्य है, वैसे ही अन्य कलाओं के इतिहास का भी भक्तिकाल होगा।

भक्ति आंदोलन का आधार और उदय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन के आधार का संकेत करते हुए इसे इस्लामी आक्रमण से पराजित हिन्दू जनता की असहाय एवं निराश मनःस्थिति से जोड़ा था। वे एक ओर इसे दक्षिण भारत से आया हुआ मानते थे तो दूसरी ओर यह भी मानते थे कि अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ? आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत शुक्ल जी से भिन्न है। उनका मानना है कि भक्ति आंदोलन भारतीय चिन्तनधारा का स्वाभाविक विकास है। नाथ–सिद्धों की साधना, अवतारवाद, लीलावाद और जातिगत कठोरता दक्षिण भारत से आई हुई धारा में घुल मिल गई। यह आंदोलन और साहित्य लोकोन्मुखता एवं मानवीय करुणा के महान आदर्श से युक्त है। इस प्रकार शुक्ल जी का बल तात्कालीन परिस्थिति पर अधिक है तो द्विवेजी जी का बल परंपरा पर अधिक है। मूलतः यह अन्तर इतिहास परक दृष्टि के कारण है। शुक्ल जी के लिए समाज अपने सभी वर्गों के साथ, जिसे वे समष्टि रूप में –'जनता' कहते हैं, साहित्यिक परिवर्तन और विकास के लिए जिम्मेदार है। दूसरी ओर द्विवेदी इसके लिए प्रमुख कारक लोक को मानते हैं, जो समाज की अपेक्षया पिछड़ा वर्ग है। भक्ति साहित्य के सभी विद्वानों ने इस भक्ति आंदोलन का प्रारंभ दक्षिण भारत से माना है। भक्ति के आधार ग्रंथों में से एक श्रीमद्भागवत पुराण में भक्ति स्वयं अपना परिचय – 'उत्पन्ना द्रविड़ साहं' कहकर कराती है। कबीर ने भी '**भक्ति द्राविड़ ऊपजी लायो रामानंद**' कहकर इसकी पुष्टि की है।

निर्गुण –सगुण

भक्ति साहित्य की दो धाराओं– निर्गुण काव्य और सगुण काव्य के रूप में दिखाई देती है। इन दोनों धाराओं की दो–दो उपधाराएँ हैं। निर्गुण काव्य की इन उपधाराओं को ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा कहा जाता है। प्रेमाश्रयी काव्य ही हिन्दी का सूफी काव्य है तो ज्ञानाश्रयी काव्य को संतकाव्य के रूप में जानते हैं। कबीर आदि निर्गुण संतों के साहित्य को ज्ञानाश्रयी कहने का कारण यह प्रतीत होता है कि इन संतों ने ज्ञान पर सूफियों की अपेक्षा अधिक बल दिया है। कबीर आदि के यहाँ भगवत्प्रेम पर कम बल नहीं है, किन्तु सूफी कवि प्रेम का जितना विषद चित्रण करते हैं, कबीर आदि नहीं करते। इसी तरह सगुण धारा की दो उपधाराएँ हैं–रामभक्ति शाखा एवं

कृष्ण भक्ति शाखा। सगुण भक्ति के अन्तर्गत राम भक्ति काव्य सामाजिक मर्यादा एवं लोकमंगल का काव्य है तो वहीं कृष्ण भक्ति काव्य प्रधानतः लोकरंजन के पक्ष को अपनी कविता का विषय बनाता है। यथार्थ रूप में भक्ति आंदोलन एक जन आंदोलन था।

भक्ति की दोनों धाराएँ निर्गुण धारा एवं सगुण धारा में अंतर इस बात का नहीं है कि निर्गुणियों के राम गुणहीन है और सगुण मतवादियों के राम या कृष्ण गुणसहित। वस्तुतः निर्गुण का अर्थ संतों के यहाँ गुणरहित नहीं, गुणातीत है। यह किसी निषेधात्मक सत्ता का वाचक न होकर उस परमब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है जो सत्य, रजस और तमस तीनों गुणों से अतीत है, वाणी जिनके स्वरूप का वर्णन करने में असमर्थ है। जो केवल अनुभूति का विषय है एवं रूप, रंग, रेखा से परे है। निर्गुण एवं सगुण मतवाद का अंतर अवतार एवं लीला की दो अवधारणाओं को लेकर है। निर्गुण मत के इष्ट भी कृपालु, सहृदय, दयावान एवं करुणाकर है, वे भी मानवीय भावनाओं से युक्त हैं, किन्तु वे न अवतार ग्रहण करते हैं, न लीला। वे निराकार हैं। सगुण मत के इष्ट अवतार लेते हैं, दुष्टों का दमन करते हैं, साधुओं की रक्षा करते हैं और अपनी लीला से भक्तों के चित्त का रंजन करते हैं। अतः सगुण मतवाद में विष्णु के 24 अवतारों में से अनेक की उपासना होती है, यद्यपि सर्वाधिक लोकप्रिय और लोकपूजित अवतार राम एवं कृष्ण ही हैं। तुलसी ने 'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा' कहकर इसी अभेद को पुष्ट किया है।

निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार की भक्ति का मुख्य लक्षण है– भगवद् विषयक रति एवं अनन्यता। नाथ–सिद्धों के आसन प्राणायाम, सहज समाधि शरीर, प्राण, मन वाणी की अचंचलता का योग– सब इसी महाराग में विलीन हो गए हैं।

भक्ति के संप्रदाय

भक्ति के अनेक संप्रदाय हैं, उनमें से चार वैष्णव संप्रदायों और आचार्यों का परिचय संक्षेप में दिया जा रहा है। ये है –श्री, बाह्म, रुद्र, सनकादि या निम्बार्क।

श्री संप्रदाय

श्री संप्रदाय के आचार्य रामनुजाचार्य हैं। कहा जाता है कि लक्ष्मी ने इन्हें जिस मत का उपदेश दिया उसी के आधार पर इन्होंने अपने मत का प्रवर्तन किया। इसीलिए इनके संप्रदाय को श्री संप्रदाय कहते हैं। इन्होंने आलवारों की भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया एवं शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खंडन करते हुए जिस मत की स्थापना की उसे विशिष्टाद्वैतवाद के नाम से जाना जाता है। रामानुज का ब्रह्म विशेषण से युक्त विशिष्ट है। रामानुज के अनुसार जगत मिथ्या नहीं, वास्तविक है। जगत शरीर है, ब्रह्म शरीरी। ब्रह्म जीव और जगत को धारण करता हुआ उसका नियमन करता है जैसे शरीरी शरीर का। इस जगत को वास्तविक मानकर उसे महत्त्व देने में ही भक्ति की लोकोन्मुखता एवं करुणा है। जगत मिथ्या नहीं, वास्तविक है, यह लौकिकता की विश्वबोधात्मक या दार्शनिक स्वीकृति है।

रामानुज की ही परंपरा में रामानंद हुए। रामानंद प्रयाग में उत्पन्न हुए थे। इनके गुरु का नाम राधवानंद था। रामानंद संस्कृत के पंडित उच्च कुलोत्पन्न ब्राह्मण थे, किन्तु वे आकाशधर्मा गुरु

थे। उन्होंने अवर्ण–सवर्ण, स्त्री–पुरुष, राजा–रंक सभी को शिष्य बनाया। उनका विचार था कि ऋषियों के नाम पर गोत्र एवं परिवार बन सकते हैं तो ऋषियों के भी पूजित परमेश्वर के नाम पर सबका परिचय क्यों नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार सभी भाई–भाई हैं, सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जाति से नहीं। इनके 12 शिष्य प्रसिद्ध हैं, उनकी सूची इस प्रकार है– रैदास, कबीर, धन्ना, सेना, पीपा, भावानंद, सुखानंद, अनंतानंद, सुरसुरानंद, नरहरयानंद, पदमावती, सुरसरी। रामानंद के व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उन्होंने हिन्दी को अपने मत के प्रचार का माध्यम बनाया।

ब्राह्म संप्रदाय

ब्राह्म संप्रदाय के प्रर्वतक मध्वाचार्य थे। उनका जन्म गुजरात में हुआ था। चैतन्य महाप्रभु पहले इसी संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। इस संप्रदाय का सीधा संबंध हिन्दी साहित्य से नहीं है।

रुद्र संप्रदाय

इसके प्रवर्तक विष्णु स्वामी थे। वस्तुतः यह महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुष्टि संप्रदाय के रूप में ही हिन्दी में जीवित है। जिस प्रकार रामानंद ने 'राम' की उपासना पर बल दिया था, उसी प्रकार वल्लभाचार्य ने 'कृष्ण' की उपासना पर। उन्होंने प्रेमलक्षणा भक्ति ग्रहण की। भगवान के अनुग्रह के भरोसे नित्यलीला में प्रवेश करना जीव का लक्ष्य माना। सूरदास एवं अष्टछाप के कवियों पर इसी संप्रदाय का प्रभाव है।

सनकादि संप्रदाय

यह निम्बाकाचार्य द्वारा प्रवर्तित है। हिन्दी भक्ति साहित्य को प्रभावित करने वाले राधावल्लभी संप्रदाय का संबंध इसी से जोड़ा जाता है। राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक हितहरिवंश का जन्म 1502 ई. में मथुरा के पास बांदगाँव में हुआ था। कहा जाता है कि हितहरिवंश पहले मध्वानुयायी थे। इसमें राधा की प्रधानता है।

भाषा काव्यरूप और छंद

भक्ति आंदोलन अखिल भारतीय था। इसका परिणाम यह हुआ कि लगभग पूरे देश में मध्यदेश की काव्य भाषा हिन्दी ब्रजभाषा का प्रचार–प्रसार हुआ। नामदेव यदि अपनी भाषा अर्थात मराठी में और नानक देव पंजाबी में रचना करते थे तो ब्रजभाषा में भी। भक्तिकालीन हिन्दी काव्य की प्रमुख भाषा ब्रजभाषा है। इसके अनेक कारण है। परंपरा से पछाँही बोली शौरसेनी मध्यदेश की काव्य भाषा रही है। ब्रजभाषा आधुनिक आर्यभाषा काल में उसी शौरसेनी का रूप थी। इसमें सूरदास जैसे महान लोकप्रिय कवि ने रचना की और वह कृष्ण भक्ति के केन्द्र ब्रज की बोली थी, जिससे यह कृष्ण भक्ति की भाषा बन गई। बंगाल–असम में ब्रजभाषा प्रभावित बंगला–असमिया को 'ब्रजबुलि' कहा गया। चैतन्य महाप्रभु ने कृष्णगान के लिए इसी भाषा का प्रयोग किया है।

भक्तिकाल की दूसरी भाषा अवधी है, यद्यपि यह ब्रजभाषा जितनी व्यापक नहीं। अवधी में काव्य रचना प्रधानतः रामपरक और अवध क्षेत्र के ही कवियों द्वारा हुई है। हिन्दी के सूफी कवि अवध क्षेत्र के ही थे। फिर भी यदि उन्होंने अवधी में प्रबंधकाव्य लिखे तो उसकी कोई परंपरा

अवश्य रही होगी। प्राकृत–पैंगलम के अनेक छंदों की भाषा में अवधी कहीं–कहीं व्यवस्थित रूप में दिखलाई पड़ती है। राहुल जी ने पउम–चरिउ की भाषा में कुंजी के शब्दों को अवधी कहा है। संभवतः अवध क्षेत्र व्यापारिक या सैनिक दृष्टि से 14 वीं और 15 वीं शताब्दी में महत्त्वपूर्ण रहा हो। धार्मिक दृष्टि से राम की काव्य–भूमि अयोध्या के कारण तो वह महत्त्वपूर्ण था ही। भक्ति काल में किसी महान कवि ने शुद्ध खड़ी बोली में कोई रचना नहीं की। उसका मिश्रित रूप सधुक्कड़ी अवश्य मिलता है जो वस्तुतः पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, ब्रज और कहीं–कहीं अवधी का भी पंचमेल है।

भक्ति साहित्य अनेक विधाओं और छन्दों में लिखा गया है, किन्तु गेयपद और दोहा–चौपाई में निबद्ध कड़व्क वद्धता उसके प्रधान रचना–रूप हैं। गेयपदों की परंपरा हिंदी में सिद्धों से प्रारम्भ होती है। नानक, नामदेव, कबीर, सूर, तुलसी, मीराबाई आदि ने गेयपदों में रचना की है। गेयपदों में काव्य और संगीत एक दूसरे से घुलमिल से गए हैं। संभवतः ये कवि राग–रागिनियों को ध्यान में रखकर इन गेयपदों की रचना करते थे। गेयपदों की प्रारंभिक पंक्ति आवर्ती या टेक होती है अर्थात् वह केंद्रीय कथ्य होती है। बीच की पंक्तियों में उस कथ्य की व्याख्या होती है और अंतिम पंक्ति में रचनाकार अपना नाम डालकर गेयपद समाप्त करता है। यह अपने अनुभव से गेयपद के कथ्य को सत्यापित करता है।

दोहा–चौपाइयों की परंपरा भी सरहपा से मिलने लगती है, किन्तु सरहपा ने कोई प्रबंध काव्य नहीं लिखा। लगता है, दोहा– चौपाई में प्रबंध काव्य लिखने के लिए अवधी की प्रकृति अधिक अनुकूल है। जायसी पूर्व अवधी कवियों के भी अनेक काव्य चौपाई–दोहे में कड़वक बद्ध मिले हैं– जैसे भीम कवि का दंगवै पुराण, सूरजदास की एकादसी कथा, पुरुषोत्तम दास का जैमिनि पुराण, ईश्वर दास की सत्यवती कथा, किन्तु यह रचना रूप सूफी कवियों, विशेषतः जायसी के हाथों अत्यंत परिष्कृत हुआ। तुलसीदास ने इसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया।

दोहे की परंपरा अपभ्रंश में मिलने लगती है। सरहपाद का दोहा–कोष प्रसिद्ध है। दोहा नाम से आदिकाल में 'ढोला मारू रा दूहा' जैसा प्रबंध काव्य भी मिलता है। भक्ति काल में कबीर के दोहे 'साखी' के नाम से जाने जाते हैं। तुलसी ने रामकथा 'दोहावली' में रची। दोहे का ही एक रूप सोरठा है।

छप्पय, सवैया, कवित्त, भुजंग प्रयात, बरवै, हरिगीतिका आदि भक्तिकाव्य के बहुप्रचलित छंद हैं। सवैया, कवित्त, हिन्दी के अपने छंद हैं जो भक्तिकाव्य में दिखलाई पड़ते हैं। इनकी स्पष्ट परंपरा पहले नहीं मिलती। तुलसीदास ऐसे भक्त कवि हैं, जिनके यहाँ मध्यकाल में प्रचलित प्रायः सभी काव्यरूप मिल जाते हैं। तुलसी ने मंगलकाव्य, नहछू, कलेऊ, सोहर जैसे काव्य रूपों का भी उपयोग किया है। नहछू, कलेऊ विवाह के समय गाए जाने वाले और सोहर पुत्र जन्म के समय गाया जाने वाला गीत है।

आदिकाल में विविध छंदो में प्रबंधकाव्य रचने की प्रवृत्ति थी। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज रासों में छंद बहुत जल्दी–जल्दी बदलते हैं। सूरदास और तुलसीदास भी छंद परिवर्तन करते हैं किन्तु जल्दी–जल्दी नहीं। केशव की रामचंद्रिका में बहुत जल्दी–जल्दी छंद परिवर्तित हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति आंदोलन के विकास में अनेक स्थितियों का योगदान है। भक्ति मूलतः एक धार्मिक साधना–पद्धति, ज्ञान योग, कर्म योग, के समान एक योग है, किन्तु ऐतिहासिक विकास के एक विशिष्ट दौर में वह एक लोकोन्मुख अखिल भारतीय आंदोलन बन गई। धर्म उसका रूप है और मानवीय करुणा उसकी अंतर्वस्तु। हिन्दी साहित्य के इतिहास का भक्ति आंदोलन इसी धार्मिक आंदोलन पर आधारित है।

निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा

हिन्दी साहित्य के संत कवियों की ज्ञानाधारित निष्पक्षता, न्यायप्रियता, भक्तिभावना और काव्यधारा को दृष्टिगत कर इसे ज्ञानमार्गी काव्यधारा की संज्ञा दी जाती है। भक्तिकाल की विषम राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में आशा की ज्योति बिखरने का कार्य संत काव्यधारा के कवियों ने किया। उन्होंने तात्कालीन धार्मिक मान्यताओं को अपने जीवन के व्यापक अनुभव के आधार पर जनसामान्य के लिए बोधगम्य बनाया जिसमें युगीन परिवेश की सबल भूमिका रही है। सभी संत कवि वर्णवादी समाज को तोड़कर मानवतावादी समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। धार्मिक सहिष्णुता को संत कवियों ने सामाजिक विकास के लिए आवश्यक माना। निर्गुण काव्य में मानवीय अनुभव और विवेक को प्रमाणिक माना गया है इसलिए संत कवि पांडित्य परंपरा और पुस्तकीय ज्ञान के वाद–विवाद को व्यर्थ मानते हैं। उनके काव्य में अनुभूति की निश्छलता और शिल्प की अनगढ़ता मिलती है।

'संत' शब्द का प्रयोग प्रायः बुद्धिमान, पवित्रात्मा, परोपकारी व सज्जन व्यक्ति के लिए किया जाता है। संतकाव्य धारा में संत शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत्य रूपी परमतत्त्व का अनुभव कर लिया हो। संत शब्द में व्यक्ति की 'रहनी' तथा 'करनी' का सुंदर सामंजस्य भी लक्षित होता है। हिन्दी में संत कवि से अभिप्राय–कबीर आदि निर्गुणोपासक ज्ञानमार्गी कवियों से लिया जाता है। कबीरदास ने अपनी एक साखी में कहा है–''निरबैरी निहकामता, साँई सेंती नेह। विषया सून्दरा रहै, संतनि को अंग एह।।' यहाँ भी संतो का लक्षण उनका निष्काम, प्रभु का प्रेमी और विषयों से विरक्त होना है।

संत मत पहले से निश्चित किसी सिद्धांत या मत का संग्रह नहीं है। इसका प्रसार भिन्न संतो द्वारा समय–समय पर दिए उपदेशों से भी नहीं हुआ है। यह परंपरा, अनुभव से ज्ञान का संधान कर प्रसार को पाती है। कबीरदास कहते हैं– 'सतगुरु तत कह्यौ विचार, मूल गह्यौ अनभै विस्तार।' इस प्रकार तत्त्व का ग्रहण कर, अनुभव तथा विवेक के समन्वय से ही यह मत अस्तित्व में आया। संत कवि ईश्वर से तादात्म करने के लिए नामोपासना की पद्धति को स्वीकार करते हैं। परमतत्त्व के विषय में किसी प्रकार की दार्शनिक विवेचन उन्होंने नहीं किया। इसे ये कवि राम, खुदा, रहीम, ब्रह्म आदि अनेक नामों से पुकारते हैं, किन्तु सबका लक्ष्य परमतत्त्व का साक्षात्कार करना ही है। संतों की यह साधना पद्धति 'अजपाजप' के नाम से प्रसिद्ध है।

निर्गुण संत परंपरा

कबीरदास जैसे संतो की परंपरा का सूत्रपात 15 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल में हुआ था। स्वामी रामानंद कबीदास के दीक्षा गुरु थे। संत रविदास, सेना, नाई, पीपा, धन्ना, आदि उनके

गुरु भाई थे। जनश्रुति है कि स्वामीजी के उपदेशों से प्रभावित होकर ही इन्होंने संत परंपरा का सूत्रपात किया। वस्तुतः संत परंपरा की विचारधारा के लिए अनुकूल भाव–भूमि बहुत पहले ही तैयार हो रही थी। पूर्व में बौद्ध धर्म, वज्रयान एवं सहजयान में परिणत हो गया था। वैष्णव संप्रदाय और उसमें कई बातों का आदान–प्रदान हुआ और इस तरह दोनों निकट आने लगे। इसी प्रकार का वैचारिक सामंजस्य नाथपंथ एवं स्थानीय वैष्णव संप्रदाय के मध्य महाराष्ट्र तथा राजस्थान में देखने में आया। इस प्रभाव के फलस्वरूप पूर्व की ओर से संत जयदेव, दक्षिण की ओर से संत ज्ञानदेव एवं नामदेव, पश्चिम की ओर से संत बेनी एवं सधना तथा कश्मीर की ओर से संत ललदेव का आविर्भाव स्वामी रामानंद से पहले ही हो चुका था। आगे चलकर कबीर आदि संतो की दीर्घ परंपरा हिंदी में चली। अनेक पंथों एवं गद्दियों की स्थापना हुई। इनमें नानक देव के पंथ के अतिरिक्त दादू दयाल के दादूपंथ, हरिदास के निरंजनी संप्रदाय, मलूकदास के मलूकपंथ तथा कबीरदास के नाम पर कबीरपंथ बनकर तैयार हो गए। इस परंपरा का प्रथम युग, संत जयदेव से आरंभ होता है और उसके पीछे दो सौ वर्षों तक संत अधिकतर पथ–प्रदर्शकों के रूप में आते हुए दीख पड़ते हैं। 15वीं शताब्दी में कबीरदास ने संतमत के निश्चित सिद्धांतों का प्रचार विस्तार के साथ किया। आचार्य शुक्ल ने इन्हें ही निर्गुण भक्ति का प्रर्वतक माना हैं।

ज्ञानाश्रयी काव्यधारा और उसके प्रमुख कवि

नामदेव (जन्म 1267 ई.) 13 वीं शताब्दी

इनका जन्म 1267 ई. को महाराष्ट्र के सतारा के नरसी वमनी (बहमनी) गाँव में हुआ था। अपने पैतृक व्यवसाय की ओर इनकी रुचि नहीं थी, अतः बचपन से ही साधुसेवा एवं सतसंग में अपना जीवन बिताते रहे। संत विसोवा खेचर इनके गुरु थे तथा प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर के प्रति भी इनकी गहरी निष्ठा थी। ऐसा कहा जाता है कि नामदेव पहले सगुणोपासक भक्त थे लेकिन नामदेव के प्रभाव में आकर निर्गुण बह्म की उपासना की ओर प्रवृत्त हुए। मराठी में रचित अभंगों के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में भी इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं। सधुक्कड़ी भाषा में रचित इनकी रचनाओं में निर्गुणोपासना, कर्मकांड का खंडन तथा ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया गया है–

जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जलते भिन न होई।
इहु परपंचु पारबह्म की लीला, विचरत आन न होई।।
मिथिआ भरमु अरु सुपन मनोरथ, सति पदारथु जानिया।
सकित मनसा गुर उपदेसी, जागत ही मनु मानिया।।
कहत नामदेउ हरि की रचना, देषहु रिदै बीचारी।
घट–घट जंतरि सरब निरन्तरि, केवल एक मुरारी।।

संत नामदेव छीपा दर्जी थे। वे गज, कैंची और सुई धागे के माध्यम से ही भक्ति रहस्य उद्घाटित करते थे। सामान्य जन उनकी आजीविका के कार्य से परिचित थे अतः उनकी रूपक–योजना को सही ढंग से समझने में वे सक्षम थे।

कबीर (1397–1518 ई.)

कबीर के जन्म काल, जीवन मरण तथा जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं के विषय में किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं। जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म 1397 ई. में काशी की एक विधवा ब्राह्मणी के घर मे हुआ था। किन्तु लोकापवाद के भय से वह इन्हें लहरतारा ताल के निकट छोड़ आई। इनका पालन–पोषण नीरू–नीमा नामक जुलाहा दम्पत्ति ने किया। इस प्रकार कबीर ब्राह्मणी के पेट से उत्पन्न हुए थे, लेकिन उनका पालन–पोषण जुलाहे के यहाँ हुआ। कबीर ने भी अपने को कविता मे अनेक बार जुलाहा कहा है। बाद में वे जुलाहा ही प्रसिद्ध हुए। कबीर की मृत्यु के बारे में भी कहा जाता है कि हिन्दू उनके शव को जलाना चाहते थे और मुसलमान दफनाना। इस पर विवाद हुआ, किन्तु पाया गया कि कबीर का शव अंतर्धान हो गया है। वहाँ कुछ फूल है। उनमें से कुछ फूलों को हिन्दुओं ने जलाया और कुछ को मुसलमानों ने दफनाया। कबीर की पत्नी का नाम लोई था। उनकी संतान के रूप में पुत्र कमाल और पुत्री कमाली का उल्लेख मिलता है। कबीर के प्रधान शिष्यों में धर्मदास ने कबीर की वाणी का संग्रह किया। ऐसा माना जाता है कि कबीर की मृत्यु मगहर जिला बस्ती में सन् 1518 ई. में हुई।

कबीर का अपना पंथ या संप्रदाय क्या था, इसके बारे में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। रामानंद इनके दीक्षा गुरु थे। उनके नाम का मंत्र लेने के लिए ये पंचगंगा घाट की उन सीढ़ियों पर जा पड़े, जहाँ से प्रातःकाल रामानंद स्नान करने जाते थे। अंधेरे मे रामानंद के चरण कबीर साहब पर पड़ गए और रामानंद जी बोल उठे 'राम राम कह'। आगे चलकर यही मंत्र मानुष सत्य के महान लक्ष्य की प्राप्ति में तथा विषमता के दुराग्रहों को छोड़कर सामाजिक न्याय और समानता की स्थापना में सहायक हुआ। शेख तकी नाम के सूफी संत को भी कबीर का गुरु कहा जाता है, किन्तु इसकी पुष्टि नहीं होती। संभवतः कबीर ने इन सबसे सत्संग किया होगा और इन सबसे किसी न किसी रूप में प्रभावित भी हुए होंगे।

कबीर की जाति के विषय मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक कबीर में प्राचीन उल्लेखों, कबीर की रचनाओं, प्रथा, वयनजीवी (बुनकर) जातियों के रीति–रिवाज का विवेचन–विश्लेषण करके दिखाया है– ''आज की वयनजीवी जातियों में से अधिकांश किसी समय ब्राह्मण श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करती थी। जोगी नामक आश्रम–भ्रष्ट घरबारियों की एक जाति सारे उत्तर और पूर्वी भारत में फैली थी। ये नाथपंथी थे, कपड़ा बुनकर और सूत कातकर या गोरखनाथ और भरथरी के नाम पर भीख माँगकर जीविका चलाया करते थे। इनमें निराकार भाव की उपासना प्रचलित थी। मुसलमानों के आने के बाद ये धीरे–धीरे मुसलमान होते रहे। पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में इनकी कई बस्तियों ने सामूहिक रूप से मुसलमानी धर्म ग्रहण किया। कबीरदास इन्हीं नवधर्मान्तरित लोगों में पालित हुए थे।''

कबीर के काव्यपर इन सबका प्रभाव देखा जा सकता है। उनमें वेदांत का अद्वैत, नाथ–पंथियों की अंतस्साधनात्मक–रहस्य भावना, हठयोग, कुंडलिनी योग, सहज साधना, इस्लाम का एकेश्वरवाद सब कुछ मिलता है।

कवि के रूप में कबीर जीवन की सहजता के अधिक निकट हैं। उनकी कविता में छंद, अलंकार, शब्द शक्ति आदि गौण है और लोकमंगल की चिंता प्रधान है। इनकी वाणी का संग्रह इनके अनुयायियों ने ''बीजक' के नाम से किया है। इसके तीन भाग है, 'रमैनी', 'सबद' और 'साखी'। रमैनी और सबद में गाने के पद हैं तथा साखी दोहा छंद में लिखी गई है। रमैनी और सबद ब्रजभाषा में है जो तत्कालीन मध्यदेश की काव्यभाषा थी। कबीर ने अपनी कविता में अंतस्साधनात्मक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग भी खूब किया है। साथ ही अहिंसा की भावना और वैष्णव प्रपत्तिवाद भी।

कबीर की भाषा मूलतः तो पूरब की है, किन्तु उसमें अन्य बोलियों का मिश्रण होने के कारण उसे सधुक्कड़ी कहा जाता है। कबीर साहसपूर्वक जन–बोली के शब्दों का प्रयोग अपनी कविता में करते हैं। बोली के ठेठ शब्दों के प्रयोग के कारण ही कबीर को 'वाणी का डिक्टेटर' कहा जाता है। उनकी अनंत तेजस्विता उनकी भाषा–शैली में भी प्रकट है। काजी, पंडित, मुल्ला को संबोधित करते समय वे प्रायः तन जाते हैं–' पाँडे कौन कुमति तोंहि लागी, कसरे मुल्ला बाँग नेवाजा।' किन्तु सामान्य जन को या हरिजन को संबोधित करते समय वे 'भाई' या 'साधो' जैसे शब्द का प्रयोग करते हैं।

कबीर तथा अन्य निर्गुण संतो की उलटबासियाँ प्रसिद्ध हैं। उलटबासियों का पूर्व रूप हमें सिद्धों की 'संधा भाषा' में मिलता है। उलटबासियाँ अंतस्साधनात्मक अनुभूतियों को आसामान्य प्रतीकों में प्रकट करती हैं। वे वर्णाश्रम व्यवस्था को मानने वाले संस्कारों को धक्का देती हैं। इन प्रतीकों का अर्थ खुलने पर ही उलटबासियाँ समझ में आती है।

कबीर ने भक्ति पूर्व धार्मिक साधनाओं को आत्मसात अवश्य किया था। किन्तु वे इन साधनाओं को भक्ति की भूमिका या तैयारी मात्र मानते थे। जीवन की सार्थकता वे भक्ति या भगवद् विषयक रति में मानते थे। यद्यपि उनके राम निराकार है, किन्तु वे मानवीय भावनाओं के आलंबन है। इसलिए कबीर ने निराकार निर्गुण राम को भी अनेक प्रकार के मानवीय संबंधों में याद किया है। वे 'भरतार' है, कबीर 'बहुरिया' है। वे कबीर की माँ है–'हरिजननी मैं बालक तोरा'। वे पिता भी हैं जिनके साथ कबीर बाजार जाने की जिद करते हैं।

कबीर भक्ति के बिना सारी साधनाओं को व्यर्थ और अनर्थक मानते हैं। इसी प्रेम एवं भक्ति के बल पर वे अपने युग के सारे मिथ्याचार, कर्मकांड, अमानवीयता, हिंसा, पर–पीड़ा को चुनौती देते हैं। उनके काव्य, उनके व्यक्तिव और उनकी साधना में जो अक्खड़पन, निर्भीकता और दोटूकपन है वह भी इसी भक्ति या महाराग के कारण। वे पूर्व साधनाओं की पारिभाषिक शब्दावली को अपनाकर भी उसमें जो नई अर्थवत्ता भरते हैं, वह भी वस्तुतः प्रेम भक्ति की ही अर्थवत्ता है।

कबीर अपने अनुभव, पर्यवेक्षण और बुद्धि को निर्णायक मानते हैं, शास्त्र को नहीं। इस दृष्टि से वे यथार्थ–बोध के रचनाकार हैं। उनके यहाँ जो व्यंग्य की तीव्रता और धार है वह भी कथनी–करनी के अंतर को देख पाने की क्षमता के कारण। अपने देखने या अनुभव को न झुठलाने के कारण ही वे परंपरा द्वारा दिए गए समाधान को अस्वीकार करके नए प्रश्न पूछते हैं–

'चलन–चलन सब लोग कहत है, न जाने बैकुंठ कहाँ है' ?
या 'न जाने तेरा साहब कैसा है'?

कबीर बहुत गहरी मानवीयता और सहृदयता के कवि हैं। अक्खड़ता और निर्भयता उनके कवच हैं, उनके हृदय में मानवीय करुणा, निरीहता, जगत के सौन्दर्य से अभिभूत होने वाला हृदय विद्यमान है। कबीर की एक और विशेषता है– काल का तीव्र बोध। वे काल को सर्वग्रासी रूप में चित्रित करते हैं और भक्ति को उस काल से बचने का मार्ग बताते हैं।

परंपरा पर संदेह, यथार्थ–बोध, व्यंग्य, काल–बोध की तीव्रता ओर गहरी मानवीय करुणा के कारण कबीर आधुनिक भाव–बोध के बहुत निकट लगते हैं। किन्तु कबीर में अंतस्साधनात्मक रहस्य –भावना भी है और राम में अनन्य भक्ति तो उनकी मूल भाव–भूमि ही है।

नाद, बिन्दु, कुंडलिनी, षडचक्रभेदन आदि का बारंबार वर्णन कबीर काव्य का अंतस्साधनात्मक रहस्यवादी पक्ष है। कबीर में स्वाभाविक रहस्य भावना बड़े मार्मिक तौर पर व्यक्त की गई है। ऐसे अवसर पर वे प्रायः जिज्ञासा होते है–'कहो भइया अंबर कासौ लागा'।

कबीर में जीवन के द्वंद्वात्मक पक्ष को समझ लेने की अद्‌भुत क्षमता थी। इस परस्पर विरोधिता को न समझने पर कबीर का मर्म नहीं खुलता। जिसे जीना कहा जाता है, वह वस्तुतः जीवित रहने और मृत्यु की ओर निरंतर बढ़ते रहने की प्रक्रिया है। फिर भी लोग कुशल पूछते हैं और कुशल बताते हैं। लोग जीने का एक पक्ष देखते हैं दूसरा नहीं। कबीर इस पर व्यंग्य करते हैं, हँसते हैं और करुणा करते हैं–

कुसल–कुसल ही पूछते कुसल रहा न कोय।
जरा मुई न भय मुआ कुसल कहां ते होय।।

कबीर विशाल गतिशील बिम्ब प्रस्तुत करते हुए आकाश और धरती को चक्की के दो पाट बताते हैं – 'चलती चाकी देखकर, दिया कबीरा रोय/ दो पाटन के बीच में, साबित बचा ना कोय।' इसी तरह वे समाधि, सत्संग, गुरु –उपदेश, हरिभजन आदि की सुखानुभूति का चित्रण उत्कृष्ट इंद्रिय बोधात्मक तीव्रता के साथ करते हैं–'सतगुर हमसू रीझ कर, कहा एक परसंग। बादर बरसा प्रेम का, भीज गया सब अंग।'

कबीर सादृश्य विधान प्रायः अवर्ण जातियों का व्यवसाय के आधार पर खड़ा करते हैं। जुलाहा, माली, कुम्हार, लोहार, व्याध्र, कलवार आदि के व्यवसायों का उपयोग वे प्रायः अंलकार योजना में करते हैं। यह भाव प्रायः सभी निर्गुण कवियों में पाया जाता है।

इस प्रकार भाषा, संवेदना, विचार प्रणाली–सभी दृष्टियों से कबीर शास्त्रीयता के समक्ष खाँटी देसीपन को महत्त्व देते हैं। 'संसकिरित के कूपजल' को छोड़कर वे भाखा के बहते नीर तक स्वयं पहुँचते हैं और सबको पहुँचाते हैं। संस्कृत से मुक्त लोक–संस्कृति को बनाने में उनका योगदान अप्रतिम है। पंडित और मुल्ला यहाँ दोनों को वे एक साथ अप्रासंगिक करार देते हैं। मूलतः कवि होने के नाते शास्त्र की तुलना में वे अनुभव को प्रमाणिक मानते हैं। भाखापन को लेकर यह गहरा आत्मविश्वास–भाव उनके रचनाकार व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है।

रैदास (15वीं शताब्दी)

मध्ययुगीन शाधकों में संत रैदास अथवा रविदास के जीवनकाल की तिथि के विषय में कुछ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता। रैदास रामानन्द के बारह शिष्यों में से एक थे। इनके समकालीन धन्ना और मीरा ने अपनी रचनाओं में बहुत श्रद्धा के साथ इनका नामोल्लेख किया है। यह भी कहा जाता है कि मीराबाई रैदास की शिष्या थी। रैदास ने अपने एक पद में कबीर और सेन का उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वे कबीर से छोटे थे। 'रैदास की परिचई' में उनके जन्मकाल का उल्लेख नहीं है। अनुमानतः 15 वीं शती उनका समय रहा होगा। रैदास की कविता में सामाजिक विषमता के प्रति विरोध का भाव है, किन्तु उनका स्वर कबीर जैसा आक्रामक नहीं है। रैदास की कविता की विशेषता उनकी निरीहता है। वे अनन्यता पर बल देते हैं। वह कविता में बार–बार अपने को चमार कहकर संबोधित करते हैं 'कह रैदास खलास चमारा' या 'ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार'।

रैदास काशी के आसपास के थे। इनकी रचनाओं का कोई व्यवस्थित संकलन नहीं है, वह मात्र फुटकल रूप में ही उपलब्ध होता है। 'आदिग्रन्थ' में इनके कतिपय पद मिलते हैं। कुछ फुटकल पद 'सतबानी' में हैं। भक्ति भावना ने उनमें वह बल भर दिया था जिसके आधार पर वे डंके की चोट पर घोषित कर सके कि उनके कुटुंबी आज भी बनारस के आस–पास ढोर (मुर्दा पशु) ढोते हैं और दासानुदास रैदास उन्हीं का वंशज है–

जाके कुटुंब सब ढोर ढोवंत फिरहि अजहुँ बनारसी आसपासा।
आचार सहित बिप्र करहिं डंड उत तिन तनै रविदास दासानुदासा।

अनन्यता, भगवत्–प्रेम, दैन्य, आत्मनिवेदन और सरल हृदयता इनकी रचनाओं की विशेषता है। रैदास की भाषा सरल, प्रवाहमयी और गेयता के गुणों से युक्त है। अपनी कविता में इन्होंने जन सामान्य को निश्चल भाव से भक्ति की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया–

अब कैसे छुटे राम, नाम रट लागी।
प्रभु जी तुम चंदन हम पानी, जाकी अंग अंग बास समानी।
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवत चन्द चकोरा।
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति वरै दिन राती।
प्रभुजी तुम मोती हम धागा, जैसे सोने मिलत सुहागा।
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदासा।।

गुरु नानक देव (1469–1531 ई.)

गुरु नानक का जन्म 1469 ई. में तलवंडी ग्राम, जिला लाहौर में हुआ था। इनकी मृत्यु 1531 ई. में हुई। इनके पिता का नाम कालूचंद खत्री और माँ का नाम तृप्ता था। इनकी पत्नी का नाम सुलक्षणी था। कहते हैं कि इनके पिता ने इन्हें व्यवसाय में लगाने का बहुत प्रयास किया किन्तु इनका मन बचपन से ही भक्ति की ओर अधिकाधिक झुकता गया। इन्होंने हिन्दू–मुसलमानों दोनों की समान धार्मिक उपासना पर बल दिया। वर्णाश्रम व्यवस्था और कर्मकांड का विरोध करके निर्गुण भक्ति का प्रचार किया। गुरु नानक ने व्यापक देशाटन किया और मक्का–मदीना तक की

यात्रा की। कहते हैं कि मुगल सम्राट बाबर से भी इनकी भेंट हुई थी। यात्रा के दौरान इनके साथी और शिष्य रागी नामक मुस्लिम रहते थे, जो इनके द्वारा रचित पदों को गाते थे।

गुरु नानक ने सिख धर्म का प्रवर्तन किया। इनकी रचनाओं में धार्मिक विश्वास, नाम, स्मरण, एकेश्वरवाद, परमात्मा की सर्वव्यापकता, विश्व प्रेम, नाम की महत्ता आदि का परिचय मिलता है। नानकदेव की वाणी का प्रत्येक उद्‌गार अनुभूति की गहराई से निकला प्रतीत होता है। सरलता और अहंभावशून्यता इनकी प्रकृतिगत विशेषताएँ हैं। निरीहता एवं दैन्य की अभिव्यक्ति में ये रैदास के समतुल्य हैं। इनका अधिकांश साहित्य पंजाबी में है, किन्तु कहीं–कहीं ब्रजभाषा–खड़ी बोली का प्रयोग भी मिलता है। इनकी बानियों का संग्रह' आदिग्रंथ' के 'महला' नामक खंड में हुआ है। इनमें 'शब्द' और 'सलोकु' के साथ 'जपुजी' 'आसादीवार' 'रहिरास' एवं 'सोहिला' का भी संग्रह है। गुरुनानक की ही परंपरा में उनके उत्तराधिकारी गुरु कवि हुए। इनमें गुरु अंगद (जन्म 1504 ई.), गुरु अमरदास (जन्म 1479ई.), गुरु रामदास (जन्म 1514ई.), गुरु अर्जुन (जन्म 1563 ई.), गुरु तेगबहादुर (जन्म 1622 ई.) और दसवें गुरु गोविन्द सिंह (जन्म 1664 ई.) हैं। गुरु गोविन्द सिंह ने अनेक ग्रंथो की रचना की। गुरु नानक की कविता का एक एक अंश देखिए–

जो नर दुख में दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरू भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै।।
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हरष सोक ते रहैं निचारों, नाहिं मान अपमाना।।

दादूदयाल (1544–1603 ई0)

दादू पंथ के प्रवर्तक दादू दयाल का जन्म गुजरात प्रदेश के अहमदाबाद नगर में 1544 ई. में माना जाता है। इनकी मृत्यु 1603 ई. को राजस्थान प्रांत के जयपुर के निकट नराणा गाँव में हुई, जहाँ इनके अनुयायियों का प्रधान मठ 'दादू द्वारा' वर्तमान है। दादू को परमब्रह्म संप्रदाय का प्रर्वतक माना जाता है। बाद में इस परमब्रह्म संप्रदाय को 'दादूपंथ' के नाम से संबोधित किया गया। कुछ लोग उन्हें गुजराती ब्राह्मण मानते हैं, कुछ लोग मोची या धुनिया। प्रो0 चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी और क्षितिमोहन सेन के अनुसार दादू मुसलमान थे और उनका नाम दाउद था। कहते हैं दादू बालक रूप में साबरमती नदी में बहते हुए लोदीराम नामक नागर ब्राह्मण को मिले थे। दादू के गुरु का भी निश्चित रूप से पता नहीं चलता। कुछ लोग मानते हैं कि वे कबीर के पुत्र कमाल के शिष्य थे। पं० रामचंद्र शुक्ल का विचार है कि उनकी बानी में कबीर का नाम बहुत जगह आया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि वे उन्हीं के मतानुयायी थे। दादू की रचनाओं का संग्रह उनके दो शिष्यों संतदास और जगन्नाथ दास ने 'हरडेवानी' नाम से किया था। इनके प्रमुख शिष्य रज्जब ने इसमें पाई जाने वाली त्रुटियों को सुधारकर उसे 'अंगवधू' नाम से प्रस्तुत किया। दादू की एक अन्य रचना 'कायाबेली' है। इन रचनाओं में दादू के संत हृदय की स्पष्ट छाप मिलती है।

दादू की बानी में ईश्वर की सर्वव्यापकता, सदगुरु महिमा, आत्मबोध, संसार की अनित्यता का निरूपण हुआ है। दादू भी कबीर के समान अनुभव को ही प्रमाण मानते थे। उन्होंने सगुण और

निर्गुण की बौद्धिक टकराहट से कविता को दूर रखा। उनकी कविता में प्रेम भाव की अभिव्यक्ति हैं। यह प्रेम निर्गुण निराकार ईश्वर के प्रति हैं –

भाई रे। ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पंख रहित पंथ गह पूरा अबरन एक अधारा।
बाद विवाद काहू सौं नाहीं मैं हूं ना जग थें न्यारा।।
समदृष्टि सूँ भाई सहज में आपहिं आप बिचारा।
मैं तैं मेरी यह मति नाहीं निरबैरी निरविकारा।।
काम कल्पना कदे न कीजै पूरन ब्रह्म पियारा।
ऐहि पथि पहुँचि पार गहि दादू सो तब सहज संभारा।।

निर्गुण भक्त कवि होने पर भी इन्होंने ईश्वर के सगुण स्वरूप को मान्यता दी है। दादू की कविता जनसामान्य को ध्यान में रखकर लिखी गई है, अतएव सरल एवं सहज है। उनकी रचनाओं में इस्लामी साधना के शब्दों का प्रयोग खुलकर हुआ है। इनकी रचनाओं की भाषा पश्चिमी राजस्थानी से प्रभावित हिंदी है, इसमें गुजराती, पंजाबी, सिंधी, के साथ अरबी एवं फारसी के काफी शब्द आए है, फिर भी वह सहज और सुगम है।

सुंदरदास (1596–1689ई.)

सुन्दरदास 6 वर्ष की आयु में दादू के शिष्य हो गए थे। उनका जन्म 1596 ई. में जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी धौसा नामक स्थान पर हुआ था। दादू की मृत्यु के बाद एक संत जगजीवन के साथ वे 10 वर्ष की आयु में काशी चले आए। वहाँ 30 वर्ष की आयु तक उन्होंने जमकर अध्ययन किया। काशी से लौटकर वे राजस्थान में शेखावाटी के निकट फतहपुर नामक स्थान पर गए। देशाटन इन्हें बहुत प्रिय था, पूर्व में बंगाल, पश्चिम में द्वारिका, उत्तर में बदरिकाश्रम और दक्षिण में मध्यदेश तक इन्होंने यात्रा की । भ्रमण के समय ये दादू के सिद्धांतों का प्रचार करते थे और साथ ही साथ काव्य ग्रंथों की रचना भी करते थे।

निर्गुण संत कवियों में सुंदरदास सर्वाधिक शास्त्रज्ञ एवं सुशिक्षित थे। कहते हैं कि वे अपने नाम के अनुरूप अत्यंत सुन्दर थे। सुशिक्षित होने के कारण उनकी कविता कलात्मकता से युक्त और भाषा परिमार्जित है। निर्गुण संतों ने गेयपद और दोहे ही लिखे हैं सुंदरदास ने कवित्त और सवैये भी रचे हैं। उनकी काव्यभाषा में अलंकारों का प्रयोग खूब है। इनके बयालिस ग्रंथ कहे जाते हैं, जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना सुन्दरविलास है। काव्य–कला में शिक्षित होने के कारण उनकी रचनाएँ निर्गुण साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती हैं। निर्गुण साधना और भक्ति के अतिरिक्त उन्होंने सामाजिक व्यवहार, लोकनीति और भिन्न–भिन्न क्षेत्रों के आचार–व्यवहार पर भी उक्तियाँ कही हैं। लोक धर्म और लोक मर्यादा की उन्होंने अपने काव्य में उपेक्षा नहीं की है। पतिव्रत का पालन करने वाली स्त्रियों के भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति उनकी कविता में दिखाई देती है –

पति ही है ज्ञान ध्यान, पति ही है पुन्य दान।
पति ही है तीर्थ न्हान, पति ही को मत है।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं

सुंदर सकल बिधि एक पतिव्रत हैं।।'

मलूकदास (1574–1682ई.)

मलूकदास का जन्म इलाहाबाद के कड़ा नामक गाँव में 1574 ई. में हुआ। उनके पिता का नाम सुन्दरदास खत्री था। 106 वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु 1682 ई० में औरंगजेब के समय में हुई। निर्गुण मत के इस प्रसिद्ध संत की गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नेपाल और काबुल तक में कायम हुई। इनके संबंध में बहुत से चमत्कार या करामातें प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि एक बार इन्होंने एक डूबते हुए शाही जहाज को पानी के ऊपर उठाकर बचा लिया था और रुपयों का तोड़ा गंगाजी में तैराकर कड़े से इलाहाबाद भेजा था। उनके दीक्षा–गुरु के संबंध में हिंदी के इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है। कुछ उन्हें कील का शिष्य मानते हैं और कुछ द्राविड़ विट्ठल को उनका गुरु बताते हैं। किन्तु मलूकदास ने सुखसागर में गुरु देवनाथ के पुत्र पुरुषोत्तम का गुरु रूप में स्मरण किया है। मलूकदास के विवाह, पत्नी और एक कन्या का भी उल्लेख 'परिचई' में हुआ है। वे जीवन–पर्यन्त अपने पैतृक व्यवसाय द्वारा गृहस्थी का परिपालन करते रहे। आलसियों का यह मूल मंत्र –

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम।।

इन्हीं का है। मलूकदास के प्रमाणिक ग्रंथ हैः ज्ञानबोध, ज्ञानपरोछि, रामअवतारलीला, रत्नखान, भक्तिविवेक, सुखसागर, ब्रजलीला, ध्रुवचरित आदि। जिनमें 'रत्नखान' और 'ज्ञानबोध' दो प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। मलूक दास की कविता में आख्यानशैली का प्रयोग मिलता है। इन्होंने विभिन्न कथाओं का दृष्टांत देकर लोगों को इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मोपासना आदि का उपदेश दिया है। अवतारों और चरित्रों से संबंधित इनकी रचनाएँ भी मिलती है। आत्मबोध और वैराग्य मलूकदास की कविता में मुख्य सरोकार हैं –

कहत मलूक जो बिन सिर खेपै सो यह रूप बखानै।
या नैया के अजब कथा, कोई बिरला केवट जानै।
कहत मलूक निरगुन के गुण कोई बड़भागी गावै।
क्या गिरही औ क्या बैरागी जेहि हरि देये सो पावै।।

इन्होंने अवधी और ब्रजभाषा में काव्य रचना की। इनकी भाषा में अरबी–फारसी के शब्दों का प्रयोग मिलता है। इनकी भाषा व्यवस्थित एवं सुंदर दिखाई देती है। इन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान भाव से उपदेश दिया।

रज्जब (17वीं शताब्दी)

रज्जब दादू के शिष्य थे। ये भी राजस्थान के थे। इनकी कविता में सुंदरदास की शास्त्रीयता का तो अभाव है, किन्तु पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ''रज्जबदास निश्चय ही दादू के शिष्यों में सबसे अधिक कवित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। उनकी कविताएँ भाव संपन्न, साफ और सहज है। भाषा पर राजस्थानी प्रभाव अधिक है और इस्लामी साधना के शब्द भी अपेक्षाकृत अधिक हैं।'' प्रेम रस को रज्जब ने अपनी कविता में विशेष स्थान दिया है–

सबसे निर्मल प्रेम रस, पल–पल पोषै प्राण।
जन रज्जब छाक्या रहै, साधु सन्त सुजान।।

निर्गुण संतो की ज्ञानाश्रयी शाखा के अन्य प्रसिद्ध संत कवि अक्षर अनन्य (जन्म1653ई.) जंभनाथ (1451ई.), सिंगा जी (1519ई.) और हरिदास निरंजनी (17वीं शती) हैं। कबीर के पुत्र कमाल और प्रमुख शिष्य धर्मदास की गणना इसी परंपरा में होती है। इनमें धर्मदास (16वीं शती)की रचनाओं का संतो में बहुत आदर है। इन्होंने कबीर का शिष्य बनने पर अपनी विशाल संपत्ति लुटा दी। इनकी कविताएँ सरल और प्रेम भावापन्न है।

ज्ञानाश्रयी शाखा के काव्य की सामान्य विशेषताएँ –

संत साहित्य का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि संत निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल देते हैं। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति सद्गुरु द्वारा दिए गए ज्ञान से ही हो सकती हैं, जो लोक में फैले माया जाल के आवरण को भेद कर ज्ञान के चक्षुओं को खोलकर साक्षात् सत्यरूपी परब्रह्म का साक्षात्कार कराता है। इसी हेतु इन कवियों को ज्ञानमार्गी कहा जाता है। कबीर के काव्य में निर्गुण मतवाद का विश्वबोध प्रकट है। वे निर्गुण को गुणरहित नहीं, गुणातीत मानते हैं और उससे अनेक प्रकार के संबंध माता, पिता, प्रिय, गुरु, आदि का स्थापित करते हैं। कबीर के यहाँ प्रेम की उत्कटता कम तीव्र नहीं, किन्तु वे ज्ञान एवं अंतस्साधना की उपेक्षा नहीं करते। वे सृष्टि की उत्पत्ति, नाश, जन्म, मृत्य, मनुष्य की नाड़ियों, चक्रों आदि की बात काफी करते हैं। वे ज्ञान को व्याकुल करने वाला या दाहक मानते हैं। उनके यहाँ ज्ञान की आँधी सब कुछ को अस्त–व्यस्त कर देती हैं। इसीलिए वे अपने घर को और अपने साथ चलने वाले के घर को जलाने की बात करते हैं।

संत कवियों ने भक्ति के अनुभूति–पक्ष को ही प्रधान रूप से चित्रित किया है। इन्होंने सगुणवाद अवतारवाद और मूर्तिपूजा आदि को सर्वथा त्याज्य बताया और केवल निर्गुण ब्रह्म की सत्ता को ही स्वीकार किया। एकमात्र उन्हीं की भक्ति को भवसागर से मुक्ति का एकमात्र साधन बताया है। संतकाव्य धारा के अधिकांश कवि अवर्ण हैं। उन्होंने वर्ण–व्यवस्था की पीड़ा सही थी। अतः उनमें वर्णव्यवस्था पर तीव्र आक्रमण करने का भाव है। कबीर, रैदास, सेना, पीपा आदि संतो ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलंद की एवं समझौते का रास्ता छोड़कर विद्रोह का क्रांतिकारी मार्ग अपनाया। इस धारा के कवियों पर नाथ–संतो की अंतस्साधना के साथ उनकी दुरूह प्रतीक शैली उलटबाँसी का भी प्रभाव है। इन्होंने गेयपद, दौहे, चौपाई के अतिरिक्त कुछ लोक प्रचलित छंदो का भी उपयोग किया है। इन कवियों में भाषागत सहजता और लोकभाषा की ओर झुकाव था। देशाटन की प्रवृत्ति और भाव एवं अनुभवों पर आधारित होने के कारण संत कवियों की भाषा सांस्कृतिक विविधता से युक्त होकर विशाल जनसमूह के भावों से जुड़ने में समर्थ हो सकी है।

निर्गुण प्रेमाश्रयी शाखा

भक्ति आंदोलन इतना व्यापक एवं मानवीय था कि इसमें हिन्दुओं के साथ मुसलमान भी आए। सूफी यद्यपि इस्लाम मतानुयायी हैं, किन्तु अपने दर्शन एवं साधना पद्धति के कारण भक्ति

आंदोलन में गणनीय हैं। इस्लाम एकेश्वर वादी है। किन्तु सूफी साधकों ने 'अनहलक' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' की घोषणा की। यह बात अद्वैतवादियों से मिलती–जुलती है। सूफी साधना के अनुसार मनुष्य के चार विभाग है– 1. नफ्स (इन्द्रिय) 2. अक्ल(बुद्धि या माया) 3. कल्ब (हृदय) 4. रूह (आत्मा)। यह साधना नफ्स और अक्ल को दबाकर कल्ब की साधना से रूह की प्राप्ति पर बल देती है। हृदय रूपी दर्पण में परमसत्ता का प्रतिबिम्ब आभासित होता है यह दर्पण जितना ही निर्मल होगा, रूप उतना ही स्पष्ट होगा, अर्थात् सूफी साधना भी हृदय की साधना है। इसी से वह भक्ति है। आचार्य शुक्ल ने इसीलिए जायसी आदि सूफी कवियों को कबीर, सूर, तुलसी की कोटि में रखा। यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि सूफी साधकों में भी प्रायः निम्न वर्ग के लोग थे और इसमें 'राबिया' जैसी महिला साधिका प्रसिद्ध है।

सूफी मत की सम्पूर्ण साधना प्रेमाश्रित रही है। व्यक्ति साधना की उच्च भूमि में पहुँचने पर भी इनकी दृष्टि में लोकरक्षा और लोकरंजन के प्रति गहरा सरोकार बना रहा। परंपरा को स्वीकार करते हुए भी रूढ़ एवं जर्जर तत्त्वों की जकड़न को इन्होंने स्वीकार नहीं किया। अपने इन्हीं उदार एवं स्वच्छंद विचारों के कारण सूफी कट्टर मुसलमानों के लिए काफिर थे।

भारत में आकर उदार सूफी मत यहाँ के दार्शनिक मतों एव उनके सिद्धांतों का प्रभाव ग्रहण कर निरंतर विकासमान रहा है। यही कारण है कि पैगम्बरी एकेश्वरवाद से आरंभ सूफी साधकों की यात्रा सर्वात्मवाद, एकत्ववाद से होती हुई अद्वैतवाद तक पहुँचती है। सूफी मजहबी दस्तूर को अपनी व्यापक मानवीय दृष्टि के कारण नहीं स्वीकारते। वे विधि मार्ग विरोधी न थे। उन्हें कुरान के साथ–साथ वेद और पुराण भी लोककल्याण के मार्ग का प्रतिपादन करने वाले प्रतीत हुए। सूफियों के अनुसार मानव सृष्टि का चरमोत्कर्ष है और वही ईश्वर के स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति है। मानव का परम लक्ष्य उसकी पूर्णता की प्राप्ति होना चाहिए।

सूफी साधना का प्रवेश इस देश में 12 वीं शती में मुईनुद्दीन चिश्ती के समय से माना जाता है। सूफी साधना के चार संप्रदाय प्रसिद्ध है। 1. चिश्ती 2. सोहरावर्दी 3. कादरी 4. नक्शबंदी। मुल्ला दाउद (1379 ई.) हिन्दी के प्रथम सूफी कवि हैं। सूफी कवियों की परंपरा 19 वीं शती तक मिलती है। हिंदी का सूफी काव्य अवधी भाषा में रचित मिलता है। सूफी मुसलमान थे लेकिन उन्होंने हिंदू घरों में प्रचलित कथा– कहानियों को अपने काव्य का आधार बनाया। उनकी भाषा और वर्णन में भारतीय संस्कृति रची बसी है। प्रेम की पीर की व्यंजना इनकी विशेषता है।

प्रेमाख्यानक काव्य की परंपरा

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में जहाँ सीता–राम के गार्हस्थिक दाम्पत्य भाव की परंपरा मिलती है, वहाँ उसके साथ–साथ स्वच्छन्द व साहसिक प्रेम की एक अन्य परंपरा 'ऋग्वेद' से लेकर मध्ययुगीन साहित्य तक बराबर मिलती है। ऋग्वेद एवं महाभारत के अनेक आख्यान इस परंपरा के आदि स्रोत कहे जा सकते हैं। सूफी साधकों द्वारा रचित प्रेमाख्यानों पर भारतीय आख्यान परंपरा के साथ–साथ फारसी की मसनबी शैली का भी पर्याप्त प्रभाव रहा है। यह प्रभाव विषय वस्तु एवं शिल्प दोनों स्तरों पर दिखाई देता है।

ऐतिहासिक या कल्पित व्यक्तियों के साथ किसी राजकुमारी श्रेष्ठि–पुत्री गणिका या अप्सरा की प्रेमकथा की परंपरा प्राचीन है। कालीदास ने मेघदूत में 'उदयन कथा कोविद' (उदयन की कहानी कहने मे पटु) जनों का उल्लेख किया है। 16वीं शती के बनारसीदास ने अर्द्धकथानक में लिखा है कि वे मधुमालती, मिरगावत पढ़ते थे। ये सूफी नहीं शुद्ध लौकिक प्रेमकाव्य थे। एक ही कहानी को आधार बनाकर मध्यकाल में अनेक रचनाकारों ने काव्य लिखे हैं। अनेक सूफी कवियों ने यह लिख दिया है कि **''आदि अंत जस कथा रही या पुनि हम खोलि अरथ जब कहा।''** इससे यही स्पष्ट होता है कि ये कथाएँ पहले से शुद्ध लौकिक प्रेम कथाओं के रूप में प्रचलित थी। अनुमानतः जैन मतावलंबी रचनाकारों ने आदिकाल में 'भविस्सयत कहा' जैसी जो रचनाएँ की हैं, वे भी लोक प्रचलित कथाओं पर आधारित हैं। जैसे सूफी कवियों ने उन्हें सूफी ढाँचें में बाँधा वैसे जैन मतावलंबी कवियों ने उन्हें जैन धर्म के ढांचे में प्रस्तुत किया होगा। ऐसा रामकथा, कृष्णकथा के साथ भी हुआ।

लौकिक प्रेम कथाओं की परंपरा सूफी काव्य के समांतर चलती रही है। ईश्वरदास की 'सत्यवती कथा' को उसी परंपरा में माना जाना चाहिए। कुशललाभ का 'ढोला मारू रा दूहा' (16 वीं शती) जिसमें ढोला एवं मारवड़ी की प्रेम–कथा चित्रित है, प्रसिद्ध प्रेम आख्यानक है। कुशललाभ की दूसरी रचना माधवानल–कामकंदला है। इसी प्रेम कथा पर 1547 ई. में आलम ने भी काव्य रचना की। 'सारंगा–सदावृक्ष' की प्रेम कथा पर अनेक रचनाएँ मिलती हैं। यह कथा गद्य में भी मिलती है। इसी प्रकार किसी अज्ञात कवि ने दिल्ली के सुलतान फिरोजशाह के पुत्र कुतुबुद्दीन और साहिबा की प्रेम कथा पर 'कुतुब–सतक' की रचना की। कहने का आशय यह है कि सूफी काव्य के साथ–साथ शुद्ध लौकिक प्रेम आख्यानों की परंपरा भी चलती रही। सूफी कवियों ने इसी आख्यान परंपरा का उपयोग किया और उसे सूफी सिद्धान्तों के ढाँचें में इस सफाई से गढ़ा कि कथा प्रतीकात्मक हो गई। प्रतीकात्मकता में दोहरापन होता है। वह प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थ देती है।

प्रेमाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि

मुल्ला दाउद (14 वीं शताब्दी)

मुल्ला दाउद या मौलाना दाउद की रचना 'चंदायन' से सूफी प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा का आरम्भ माना जाता है। चंदायन का रचना काल 1379 ई. है। मुल्ला दाउद रायबरेली जिले में डलमऊ के थे। वहीं चंदायन की उन्होंने रचना की थी। यह काव्य बहुत लोकप्रिय एवं सम्मानित था। दिल्ली के मख्दूम शेख तकीउद्दीन रब्बानी जन–समाज के बीच इसका पाठ किया करते थे। चंदायन पूर्वी भारत में प्रचलित लौरिक, उसकी पत्नी मैना और उसकी विवाहिता प्रेमिका चंदा की प्रेमकथा पर आधारित है। बीच–बीच में चंदा को इस काव्य में भी पद्मावत की भांति अलौकिक सत्ता का प्रतीक बनाया गया है। चंदायन की भाषा परिष्कृत अवधी है जिससे लगता है कि 14 वीं शताब्दी तक अवधी काव्य–भाषा के रूप में परिष्कृत और प्रतिष्ठित हो चली थी। चंदायन के छंद से एक दोहा उद्धृत है –

पियर पात जस बन जर, रहेउँ काँप कुँभलाई।

विरह पवन जो डोलेउ, टूट परेउँ घहराई।।'

कुतुबन (15–16 वीं शताब्दी)

कुतुबन चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रित थे। चौपाई–दोहे के क्रम में कुतुबन ने 'मृगावती' की रचना 1503–04 ई. में की थी। ये सोहरावर्दी पंथ के ज्ञात होते हैं। इसमें चंदनगर के राजा गणपति देव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती की प्रेम कथा का वर्णन है। इसमें नायक मृगी रूपी नायिका पर मोहित हो जाता है और उसकी खोज में निकल पड़ता है। अन्त में शिकार खेलते समय सिंह द्वारा मारा जाता है। यह रचना अनेक कथानक रूढ़ियों से युक्त है। इसकी भाषा प्रवाहमयी है। इस काव्य की परिणति शांत रस में दिखाई गई है–

रूकमिनि पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंति सत सो सति भई।।
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई।।
बिधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू।।

मलिक मुहम्मद जायसी (16 वीं शताब्दी)

जायसी हिंदी के सूफी काव्य परंपरा के साधकों एवं कवियों के सिरमौर हैं। ये अमेठी के निकट जायस के रहने वाले थे, इसलिए इन्हें जायसी कहा जाता है। ये प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी के शिष्य थे। जायसी अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे। अमेठी के राजघराने में इनका बहुत मान था। इनकी तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं – अखरावट, आखिरी कलाम और पद्मावत।

कहते हैं कि एक नवोपलब्ध काव्य 'कन्हावत' भी इनकी रचना है, किन्तु कन्हावत का पाठ प्रमाणिक नहीं लगता। अखरावट में देवनागरी वर्णमाला के एक–एक अक्षर को लेकर चौपाइयों में सैद्धांतिक बातें कही गई है। आखिरी कलाम में कयामत का वर्णन है। कवि के यश का आधार है पद्मावत। इसकी रचना कवि ने 1520 ई. (927 हिजरी) के आसपास की थी। कुछ लोग 27 को सैंतालिस पढ़कर इसका रचनाकाल 1547 ई. मानने के पक्ष में हैं–

सन नौ से सत्ताईस अहा। कथा आरंभ बैन कवि कहा।

इस कृति के संबंध में आचार्य शुक्ल ने लिखा– ''जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार है 'पद्मावत', जिसके पढ़ने से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और 'प्रेम की पीर' से भरा हुआ था। क्या लोकपक्ष में, क्या आध्यात्म पक्ष में दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता विलक्षण दिखाई देती है।''

पद्मावत प्रेम की पीर की व्यंजना करने वाला विषद प्रबंध काव्य है। यह दोहा–चौपाई में निबद्ध मसनबी शैली में लिखा गया है, जिसमें कवि ने अल्लाह, हजरत मुहम्मद, उनके चार मित्रों, शाहेवक्त शेरशाह सूरी और समसामयिक गुरु एवं पीरों की वन्दना की है। पद्मावत की काव्य भूमिका विषद एवं उदात्त है। कवि ने प्रारंभ में ही प्रकट कर दिया है कि जीवन और जगत को देखने वाली उसकी दृष्टि व्यापक और परस्पर विरोध को आँकने वाली है। कवि अल्लाह को इस

विविधतामय सृष्टि का कर्त्ता कहता है, विविध प्राणियों, वस्तुओं, स्थितियों का परिगणन करता है, फिर उनमें परस्पर विरोध देखता है–

कीन्हेसि नाग मुखहि विष बसा। कीन्हेसि मंत्र हरह जैहिं डसा।
कीन्हेसि अमिअ जिअन जेहि पाएँ। कीन्हेसि विष जो मीचु तेहि खाएँ।
कीन्हेसि अखि मीठि रस भरी। कीन्हेसि करइ बेलि बहु फरी।

उपर्युक्त पंक्तियों में जायसी वस्तुओं का परस्पर विरोध देख–दिखा रहे हैं। उनकी दृष्टि सामाजिक विषमता की ओर भी जाती है–

कीन्हेसि कोई भिखारि कहि धनी। कीन्हेसि संपति बिपति पुन धनी।
काहू भोग भुगुति सुख सारा। कहा काहू भूख भवन दुख भारा।

जायसी इन सबको अल्लाह का ही किया हुआ मानते थे। पद्मावत की कथा चित्तौड़ के शासक रतनसेन और सिंहल देश की राजकन्या पद्मिनी की प्रेम–कहानी पर आधारित है। इसमें कवि ने कौशलपूर्वक कल्पना एवं ऐतिहासिकता का मिश्रण कर दिया है। इसमें अलाउद्दीन खिलजी द्वारा चित्तौड़ पर आक्रमण और विजय ऐतिहासिक घटना है। रतनसेन अपनी विवाहिता पत्नी नागमती को छोड़कर पद्मिनी की खोज में योगी बनकर निकल पड़ता है। पद्मिनी से उसका विवाह होता है। राघवचेतन नामक पंडित पद्मिनी के रूप की प्रशंसा अलाउद्दीन से करता है। अलाउद्दीन छल से रतनसेन को पकड़कर दिल्ली ले जाता है। गोरा–बादल वीरतापूर्वक रतनसेन को छुड़ा लेते हैं। बाद में रतनसेन एक अन्य राजा देवपाल से लड़ाई में मारा जाता हैं। पद्मिनी और नागमती राजा के शव को लेकर सती हो जाती हैं। अलाउद्दीन जब चित्तौड़ पहुँचता है तो उसे उसकी राख मिलती है।

जायसी ने इस प्रेम कथा को आधिकारिक एवं आनुषंगिक कथाओं के ताने–बाने में बहुत सुन्दर जतन से बाँधा है। पद्मावत आद्यंत 'मानुष प्रेम' अर्थात् मानवीय प्रेम की महिमा व्यंजित करता है। हीरामन शुक शुरू में कहता है: **'मानुस प्रेम भएउँ बैंकुंठी। नाहि त काह छार भरि मूठी।'**रचना के अंत में यह छार भरि फिर आती है। अलाउद्दीन पद्मिनी के सती होने के बाद चित्तौड़ पहुँचता है तो यह राख ही मिलती है:***'छार उठाइ लीन्हि एक मूठी'। दीन्हि उड़ाइ पिरिथमी झूठी।'*कवि ने कौशल से यह मार्मिक व्यंजना की है जो पद्मिनी रतनसेन के लिए 'पारस रूप' है वही अलाउद्दीन जैसे के लिए मुट्ठी भर धूल। मध्यकालीन रोमांचक आख्यानों का कथानक प्रायः बिखर जाता है, किन्तु पद्मावत का कथानक सुगठित है।

पद्मावत में नगर वर्णन, षड्ऋतु वर्णन, बारह मासा, नख–शिख वर्णन केवल रूढ़िपालन के रूप में नही मिलता है। उसमें कवि की कल्पना, सहृदयता के सहारे मार्मिक एवं करुण दृश्य–विधान खड़ा करती है। पद्मावत में प्रकृति का प्रतीकात्मक उपयोग है, किन्तु वह अपना स्वतंत्र व्यक्तिव भी रखती है। जायसी के नख–शिख वर्णन की विशेषता यह है कि वह मांसल होते हुए भी मनुष्य की पाशविक वृत्तियों को उत्तेजित नहीं करता, बल्कि एक रहस्य और करुणा के लोक में हमें ले जाता है। पद्मावत का नागमती के विरह–वर्णन का प्रसंग अत्यंत मार्मिक है। उसकी मार्मिकता का आधार है मध्यकालीन भारतीय नारी की विवशता। एक ओर नारी का विवश

और पूर्ण आत्म–समर्पण दूसरी ओर पुरुष द्वारा उसकी उपेक्षा। मार्मिकता का दूसरा कारण नागमती को लोकसामान्य भाव–भूमि पर स्थित करके उसके विरह का चित्रण करना है। वह रानी है, किन्तु उसे जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है वह मध्यकालीन सामान्य वर्ग की नारी का रूप है, राजभवन में रहने वाली का नहीं –

पुरव नछत्र सिर ऊपर आवा। हाँ बिनु नाँह मंदिर को छावा।
बरिसै मघा झँकोरि झँकोरि। मोर दुइ नैन–चुवहिं जसि ओरी।।

पद्मावत का रचनाकार लौकिक कथा का वर्णन कहीं–कहीं इस प्रकार करता है कि अलौकिक पर परोक्ष–सत्ता का अर्थ संकेतित हो जाता है। जैसे मानसरोदक खण्ड का यह वर्णन –

'सरवर तीर पद्मिनी आई। खोंपी छोरि केस मुकलाई।।
ससिमुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिन झँपि लीन्ह चहुँ पासा।।
ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि के सरन लीन्ह जनु राहा।।

ऐसे वर्णनों से पद्मावत भरा है। इस काव्य में पद्मिनी परम सत्ता की प्रतीक है, रतनसेन साधक का, राधवचेतन शैतान का। कथा लौकिक धरातल पर चलने के साथ लोकोत्तर अर्थ की भूमि पर भी चलती है। इसीलिए पद्मावत को प्रतीकात्मक काव्य कहा जाता है, किन्तु यह प्रतीकात्मकता सर्वत्र नहीं है और इससे लौकिक कथा रस में व्याघात नहीं पड़ता ।

पद्मावत में हठयोग, कुंडलिनी योग, रसायन साधना का पर्याप्त प्रभाव है। वैष्णव निरीहता और अहिंसा का भी संदेश है। हिन्दू पौराणिक पात्रों का उल्लेख कहीं–कहीं संस्कारी मानसिकता के अनुकूल नहीं है। इस्लाम के एक संप्रदाय की सूफी साधना तो उसकी रचना की प्रेरणा ही है। इस प्रकार पद्मावत मध्यदेश की प्रायः सभी धार्मिक साधनाओं का रूप प्रस्तुत करता है।

पद्मावत विशुद्ध अवधी में रचित काव्य है। इसमें रामचरितमानस की भाँति अनेक क्षेत्र की भाषाओं का मेल नहीं। इसीलिए विशुद्ध अवधी का जो सहज और चलता रूप पद्मावत में मिलता है, मानस में नहीं। इसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग भी बहुत कम या नहीं के बराबर है। जायसी का प्रिय अंलकार हेतुत्प्रेक्षा है, जैसे –

पिउ सो कहहु संदेसड़ा हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहें जरि मुई तेहिक धुआँ हम लाग।।

जायसी के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों की विशेषता यह है कि वे वस्तु की अतिरंजना नहीं करते– अतिशयोक्ति के द्वारा भाव–सत्य का रूप खींचते हैं। इसीलिए उनकी अतिशयोक्तियाँ भी मार्मिक होती हैं।

मंझन (16वी शताब्दी)

मंझन ने 1545 ई. में मुधमालती की रचना की। मुधमालती नाम की अन्य रचनाओं का भी पता चलता है। लेकिन मंझन कृत मधुमालती जायसी के पद्मावत के पाँच वर्ष बाद रची गई। जायसी ने अपने पूर्ववर्ती सूफी प्रेमाख्यानक ग्रंथों का उल्लेख करते हुए जिस मुधमालती का नाम लिया है, वह मंझन की रची हुई नहीं हैं। इस ग्रंथ में कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र राजकुमार मनोहर का महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती के साथ प्रेम और पारस्पिक वियोग

की कथा है। इसमें इस प्रेम कथा के समानांतर प्रेमा और ताराचंद की भी प्रेमकथा चलती है। मधुमालती में नायक को अप्सराएँ उड़ाकर मधुमालती की चित्रसारी में पहुँचा देती है, वहीं नायक नायिका को देखता है एवं दोनों के बीच प्रेम पनपता है। मंझन ने इस कथा में प्रेम का उच्च आदर्श सामने रखा हैं। सूफी काव्यों में नायक की प्रायः दो पत्नियाँ होती हैं किन्तु इसमें मनोहर अपने द्वारा उपकृत प्रेमा से बहन का संबंध स्थापित करता है। इसमें जन्म–जन्मांतर के बीच प्रेम की अखंडता प्रकट की गई है। इस दृष्टि से इसमें भारतीय पुनर्जन्मवाद की बात कहीं गई है। जबकि इस्लाम पुनर्जन्मवाद नहीं मानता। लोक के वर्णन के द्वारा अलौकिक सत्ता का संकेत सभी सूफी काव्यों के समान इसमें भी पाया जाता है, जैसे–

देखत ही पहिचानेक तोंही। एही रूप जेहि छँदरयों मोहीं।।
एही रूप बुत अहै छपाना। एही रूप रब सृष्टि समाना।।
एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ।
एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नेरसा।।

उसमान (16–17 वीं शताब्दी)

उसमान कवि की 'चित्रावली' सन 1613 ई. में लिखी गई थी। ये जहाँगीर के समय में वर्तमान थे और गाजीपुर के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम शेख हुसैन था और ये पाँच भाई थे। इन्होंने अपना उपनाम 'मान' लिखा है। ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्य परंपरा में हाजीबाबा के शिष्य थे। चित्रावली का कथानक कल्पनाश्रित है। इसमें नेपाल के राजकुमार सुजान एवं रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली के साथ विवाह वर्णन अत्यंत सरस रूप में हुआ है। रचनाकार अपने रचनाविधान में जायसी से प्रभावित रहा है। जायसी की ही पद्धति पर नगर, सरोवर, यात्रा, दान महिमा आदि का वर्णन चित्रावली में भी है। इसमें सूफी और सूफी प्रेमाख्यानक इतर काव्य की परंपराओं और काव्य रूढ़ियों का सुंदर प्रयोग हुआ है। इस काव्य में विरह वर्णन के अंतर्गत षड्ऋतु का वर्णन सरल एवं मनोहर है –

ऋतु बंसत नौतन बन फूला। जहँ जहँ भौंर कुसुम रंग भूला।।
आहि कहाँ सो भँवर हमारा। जेहि बिनु बसत बसंत उजारा।।
रात बरन पुनि देखि न जाईं। मानहूँ दवा देहुँ दिसि लाईं।।
रतिपति दूर व ऋतुपति बली। कानन देह आई दलमली।।

इसके अतिरिक्त सूफी काव्य परंपरा के अन्य उल्लेखनीय कवि और काव्य इस प्रकार हैं– शेख नबी ने 1619 ई. में 'ज्ञानद्वीप' नामक काव्य लिखा। कासिम शाह ने 1731 ई. में 'हंस जवाहिर' रचा। नूर मुहम्मद ने 1744 ई0 में 'इंद्रावती' और 1764 ई0 में 'अनुराग बाँसुरी' लिखी। अनुराग बाँसुरी मे शरीर, जीवात्मा और मनोवृत्तियों को लेकर रूपक बाँधा गया है। इन्होंने चौपाइयों के बीच में दोहे न रखकर बरवै रखे हैं।

सूफी काव्य धारा की सामान्य विशेषताएँ –

सूफी काव्य अपनी अंतवर्ती विशेषताओं के कारण प्रेमाश्रयी, प्रेममार्गी, प्रेमकाव्य, प्रेमाख्यानक तथा कथा–काव्य के नाम से जाना जाता है। इससे स्पष्ट है कि इस काव्यधारा की मूल चेतना प्रेम

रही है। इस प्रेम में भी विरह स्थिति की प्रधानता रही है। इस मत पर आधारित काव्य में भी प्रेम की उत्कट विरह व्यंजना और प्रतीकात्मकता दिखाई देती है। इसीलिए सूफी कवि 'प्रेम की पीर' के कवि कहे गए हैं। इन्होंने प्रायः भारत में लोक प्रचलित कथाओं को अपने प्रबन्ध काव्य का आधार बनाया है। उस कथा को बड़े कौशल से सूफी मत के अनुकूल रूपायित किया है। इनमें भारतीय संस्कृति सुरक्षित ही नहीं है, वह समृद्ध भी हुई है। सूफी कवियों के साहित्य की आत्मा विशुद्ध भारतीय है, यद्यपि इसमें प्रेम और धर्म की विदेशी साधना भी घुलमिल गई है। प्रबंध काव्य मसनबी शैली में रचित है अर्थात् सर्गबद्ध नहीं है, काव्य को घटनाओं के शीर्षकों में विभाजित किया गया है, किन्तु इसका काव्य रूप मध्यकाल की प्राकृत, अपभ्रंश परंपरा के रोमांचक आख्यानों से जुड़ा है। तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना के लिए पद्मावत के ही काव्य रूपात्मक ढाँचे को चुना।

हिन्दी की मध्ययुगीन कविता में सूफी काव्य का रूप युग के महत्त्वपूर्ण ध्रुवों–राजाश्रय एवं धर्माश्रय को छोड़ लोकाश्रय में पनपा। लोक भूमि में पल्लवित पोषित होने के कारण ही इसमें लोकमन की साहित्यिक अभिव्यक्ति हुई। मानवता के सामान्य भावों को अपने प्रेमाख्यानों द्वारा चरितार्थ कर इन्होंने एक संवाद–सेतु निर्मित किया, जहाँ व्यक्ति, संप्रदाय, मत, सिद्धांत, वाद की खाइयाँ अपने आप पट जाती है। इन्होंने मनुष्य के भीतर छिपे प्रेम की रचनात्मक शक्ति को पहचाना और युगीन आवश्यकता की जमीन पर उसका प्रतिपादन किया। सूफी कवियों की भाषा अवधी है। ये चौपाई दोहे में कड़वक बद्ध है। एक सूफी कवि नूर मुहम्मद ने अनुराग बाँसुरी में दोहे की जगह बरवै का व्यवहार किया है। सूफी जन मानस के कवि है। इसी लोक रंगत के कारण वस्तु वर्णन प्रायः इतिवृत्तात्मक, अभिद्यापरक शैली में किए गए हैं।

रामभक्ति काव्य धारा

राम भारतीय–संस्कृति के भाव–नायक हैं। इस भाव–नायक की कथा में हर युग कुछ न कुछ जोड़ता चला आया है। राम ऐतिहासिक पुरुष नहीं है– पुराण पुरुष हैं, मिथक नायक है– भावनायक और लोकनायक। देश और काल के परिवर्तन चक्रों में पड़े राम को लोकनायक बनने में हजारों वर्ष लग गए। वैदिक काल के बाद संभवतः छठी शताब्दी ई. पू. में इक्ष्वाकुवंश के सूत्रों द्वारा रामकथा–विषयक गाथाओं की सृष्टि होने लगी। रामकथा के विद्वानों की एक बड़ी संख्या यह मानती है कि आदिकवि वाल्मीकि से कई शताब्दी पूर्व राम कथा को लेकर आख्यान काव्य परंपरा मिलती है। किन्तु वह वाचिक परंपरा थी अतः इसका साहित्य आज अप्राप्य है। ऐसी स्थिति के कारण वाल्मीकि कृत रामायण प्रचीनतम उपलब्ध रामकाव्य है। भारतीय परंपरा वाल्मीकि को 'आदिकवि' और रामायण को 'आदिकाव्य' मानती है। यह भी इस बात का प्रमाण है कि काव्य रूप में रामायण को ही सर्वप्रथम लोकप्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।

बौद्धों ने कई शताब्दियों पूर्व राम को 'बोधिसत्त्व' मानकर रामकाव्य को जातक साहित्य में स्थान दिया है। बौद्धों की भांति जैनियों ने भी राम कथा को अपनाया। जैन कवि विमलसूरी ने 'पउमचरिय' प्राकृत भाषा में लिखकर रामकथा को जैन धर्म के साँचे में ढाल दिया। संस्कृत के सृजनात्मक साहित्य में रामकथा को लेकर महाकाव्य एवं नाटकों की एक विशाल परंपरा मिलती है। कालिदास ने रघुवंश में पूरी रघुवंश की परंपरा का उल्लेख किया। इस परंपरा का श्रेष्ठ रूप

भवभूति के 'महावीरचरित्र' तथा 'उत्तररामचरित्र' में मिलता है। भवभूति ने राम तथा अयोध्या की जनता के सामने सीता–चरित्र संबंधी करुण कथा के अभिनय की योजना की एवं यह सिद्ध किया कि मानव मन को स्पर्श करने में करुण रस जैसा दूसरा कोई रस नहीं है। भारतीय भाषाओं में राम काव्य की परंपरा बहुत विशाल हैं। दक्षिण की भाषाओं में प्राचीनतम प्राप्त रामकथा कम्बन कृत तमिल रामायण है। उत्तरी भारत में तुलसी रचित 'रामचरितमानस' तथा 'कृतिवासीय रामायण' दोनों बहुत लोकप्रिय हैं।

रामानंद को रामभक्ति परंपरा के चिंतन का मेरूदण्ड कहा जा सकता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम लोक भाषा में रचना कर्म करने की प्रेरणा दी। रामानंद जी राघवानंद के शिष्य एवं रामानुजाचार्य की परंपरा के आचार्य थे। रामानंद की दो भुजाएँ–निर्गुण धारा में कबीर और सगुणधारा में तुलसीदास दोनों ही रामानंद के मानस शिष्य हैं। रामानंद के अराध्य हैं– श्रीराम। वे शील शक्ति एवं सौन्दर्य के केन्द्र है। रामानंद का यही प्रतिमान तुलसी ने 'मानस' में अपनाया है। रामानंद संप्रदाय का मानना है कि संसार में एकमात्र कर्त्ता, पालक एवं संहर्ता राम ही हैं– जीव उनका ही अंश है। सीता, राम की अनादि सहचरी आद्याशक्ति है। सीता राम की एकाग्र भाव से भक्ति ही भव–मोक्ष का साधन है। इस संप्रदाय की मुख्य भक्ति दास भाव की है। भक्ति के अधिकारी ब्राह्मण, शुद्र सभी हैं। यहाँ कर्मकांड एवं वर्ण–व्यवस्था को व्यर्थ बताया गया है। उन्होंने भक्ति को सभी प्रकार की संकीर्णवादिता से दूर करके इतना व्यापक बनाया कि उसमें गरीब–अमीर, स्त्री–पुरुष, निर्गुण–सगुण, सवर्ण–अवर्ण, हिन्दू–मुसलमान, सभी आ सकें। कबीर, तुलसी, मैथिलीशरण पर रामानंदी विचारधारा का गहरा प्रभाव है।

तुलसीदास हिन्दी रामभक्ति शाखा के सिरमौर हैं। तुलसी से पूर्व और पश्चात हिन्दी के अनेक कवियों ने राम–कथा को आधार बनाकर काव्य रचना की। यहाँ राम भक्त कवियों और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि

रामानंद

रामानंद का जन्म 1300 ई. के आसपास काशी में हुआ था और श्री वैष्णव संप्रदाय के आचार्य राधवानंद से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। रामानंद ने भक्ति को शास्त्रीय मर्यादा के बंधन से मुक्त माना। जाति और वर्ण के भेदभाव से ऊपर उठकर भक्ति को जनसामान्य से जोड़ने का प्रयत्न किया। इसलिए रामानंद की शिष्य परंपरा का संबंध रामभक्ति शाखा के तपसी और उदासी संप्रदाय से जोड़ा जाता है, वहीं निर्गुण भक्ति के ज्ञानमार्गी परंपरा से भी उनका संबंध संकेतित किया जाता है। राम को अपना आराध्य स्वीकार करते हुए रामानंद ने गाया–'जाति–पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।' रामानंद के शिष्यों की सूची भक्तमाल में इस प्रकार दी हुई है–

अनंतानंद कबीर सुखा सुरसुरा पदमावति नरहरि
पीपा भावानंद रैदास धना सेन सुरसुर की धरहरि।

रामानंद संस्कृत के पंडित थे। उन्होंने अपने मत को 'आंनद भाष्य' में प्रस्तुत किया और विशेष दार्शनिक विचारधारा को 'श्रीरामार्चन पद्धति', 'श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर' में स्पष्ट किया। रामानंद के शिष्य अनंतानंद थे। इनके शिष्य कृष्णदास पयोहारी ने राजस्थान के जयपुर के निकट गलता नामक स्थान में रामानंद की गद्दी स्थापित की। रामानंद ने ही हनुमान की पूजा आरती का तुलसीदास से पहले उत्तर भारत में विस्तार किया। उन्होंने ही 'आरती श्री हनुमान लला की, दुष्ट दलन रघुनाथ कला की' प्रार्थना की रचना की जो भक्तों का कंठहार बनी है। इनके अन्य ग्रंथ है–सिंद्धातपटल, रामरक्षास्तोत्र, योगचिन्तामणि, श्री रामाराधन, वेदांत विचार, शिवरामाष्टक, हनुमानस्तुति आदि। इस संप्रदाय के प्रसिद्ध स्थान अयोध्या, चित्रकूट, मिथिला और काशी रहे हैं।

विष्णुदास

विष्णुदास ग्वालियर नरेश डूंगरेन्द्र (सन् 1424 ई.) के राजकवि थे। इनकी कई पुस्तकों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनमें से 'रामायण कथा' को प्रमाणिक माना जाता है। इसे रामकथा से संबंधित हिन्दी का प्रथम काव्य कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा। इस पुस्तक का रचना काल सन् 1442 ई. है। निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होता है कि इसकी भाषा प्रसाद गुण युक्त है। राम वियोग के कारण सीता की मानसिक–शारीरिक दशा का आलंकारिक वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है–

रावण सीता देखी ऐसी। वन मँह बेलि फूल बिनु जैसी।
सब अभरण सिंगार विहीन। कंत वियोग दईं दुख दीन।
जिसैं मेघ मँह पैठहि मेह। तिसै देह यौं ढँकति देह।।

अग्रदास

रामभक्त कवियों में अग्रदास का नाम प्रमुख है। ये रामानंद की शिष्य परंपरा में हुए कृष्णदास पयोहारी के शिष्य थे। कृष्णदास पयोहारी ने जयपुर के समीप गलता नामक स्थान में रामानंद संप्रदाय की जो गद्दी स्थापित की, उससे अग्रदास जुड़े थे। गलता की गद्दी पर परवर्ती काल में जो शिष्य बैठे, उन्होंने भी भक्ति साहित्य की विपुल मात्रा में रचना की। अग्रदास 1556 ई. के लगभग विद्यमान थे। अग्रदास ने रामभक्ति को कृष्ण भक्ति के लोकानुरंजन के समीप लाने का प्रयत्न किया। रामभक्ति परंपरा में रसिक भावना के समावेश का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इन्होंने सखी संप्रदाय के लिए रास्ता साफ कर दिया। 'अष्टयाम्' अथवा 'रामाष्टयाम' इनकी सर्वप्रमुख रचना है–जिसमें सीता वल्लभ राम की दैनिक लीलाओं का चित्रण है। राम के ऐश्वर्य रूप की झाँकी इन लीलाओं में स्पष्ट दिखाई देती है। 'ध्यानमंजरी' में राम और उनके भाइयों का सौन्दर्य वर्णन के साथ अयोध्या एवं सरयू नदी की शोभा वर्णित है। इनके अन्य ग्रंथ है– रामभजन मंजरी, उपासना–बावनी, पदावली, हितोपदेश भाषा आदि। इनकी भाषा ब्रजभाषा है और उसमें प्रवाह के साथ परिष्कार भी है। इन्हीं अग्रदास के शिष्य भक्तमाल के रचयिता प्रसिद्ध नाभादास जी थे। अग्रदास की कविता उसी ढंग की है जिस ढंग की कृष्णोपासक कवि नंददास की। एक उदाहरण देखिए –

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सदेसा।
तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा।
मेंचक कुटिल विसाल सरोरूह नैन सुहाए।
मुख पंकज के निकट मनो अलि छौना आए।।

ईश्वरदास

तुलसी से पूर्व के रामकाव्य परंपरा में ईश्वर दास का नाम भी स्मरणीय है। ये सिकन्दर लोदी के समय में वर्तमान थे। इनकी रचना 'सत्यवती कथा' (1501ई.) के आधार पर ईश्वरदास का जन्मकाल निर्धारित किया जाता है। रामकथा से संबंधित इनकी तीन रचनाएँ मिलती हैं– 'रामजन्म', 'अंगदपैज' और 'भरत मिलाप'। इनके अतिरिक्त स्वर्गारोहिणी कथा एवं एकादशी कथा भी इनकी रचनाएँ हैं। भरत मिलाप इनकी प्रसिद्ध रचना है। भरत की अनुपस्थिति में माता–पिता की आज्ञा से राम का वनगमन, ननिहाल से लौटने पर यह समाचार सुनकर भरत का दुःखी होना एवं प्रजा के साथ राम से मिलने वन में पहुँचना आदि की कथा का करुणापूर्ण वर्णन कवि ने किया है। 'अंगदपैज' में कवि ने रावण की सभा में अंगद के पैर जमाकर डट जाने का वीररस पूर्ण वर्णन किया है। इनकी भक्ति से जुड़ा एक पद है जिसमें उन्होंने राम से दया करने की प्रार्थना की है–

रामनाम कवि नरक नेवारा। तेहि सेवा मनु लागु हमारा।
संख, चक्र धरू सारंग पानी। दया करहु कछु कहौं बखानी।।

तुलसीदास

तुलसीदास राम काव्य–परंपरा के सर्वश्रेष्ठ गायक एवं कवि के रूप में जाने जाते हैं। इनके जन्मकाल के विषय में एकाधिक मत हैं। बेनीमाधव दास द्वारा रचित गोसाईं चरित्र और महात्मा रघुवरदास कृत तुलसीचरित दोनों के अनुसार तुलसीदास का जन्म 1497 ई. में हुआ था। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार इनका जन्म सं. 1583 (1526ई.) के लगभग हुआ था। पं0 रामगुलाम द्विवेदी इनका जन्म सं0 1589 (1532ई.) मानते थे। यह निश्चित है कि ये महाकवि 16वीं शताब्दी में विद्यमान थे।

जनश्रुति के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास के पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था। मिश्रबन्धुओं ने इन्हें कान्यकुब्ज माना है। मूल गोसाईं चरित और तुलसी चरित्र के आधार पर आचार्य शुक्ल आदि ने इन्हें सरयूपाणि ब्राह्मण माना है। तुलसी का बचपन घोर दरिद्रता एवं असहायावस्था में बीता था। उन्होंने लिखा हैं, माता–पिता ने दुनिया में पैदा करके मुझे त्याग दिया। अभुक्तमूल नक्षत्र में जन्म लेने के कारण माता–पिता ने इन्हें त्याग दिया था। यह मान्य है कि तुलसी की मृत्यु सं. 1680 अर्थात् 1623 ई. में हुई। उनकी मृत्यु के विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है–

संवत सोरह सौ असी असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो सरीर।।

तुलसी के जन्मस्थान के विषय में काफी विवाद है। कोई उन्हें सोरों का बताता है, कोई राजापुर का और कोई अयोध्या का। ज्यादातर लोगों का झुकाव राजापुर की ओर है। उनकी

रचनाओं में अयोध्या, काशी, चित्रकूट आदि का वर्णन बहुत आता है। इन स्थानों पर उनके जीवन का पर्याप्त समय व्यतीत हुआ होगा। बालकाण्ड के एक दोहे में उन्होंने लिखा है कि मैंने रामकथा 'सूकरखेत' में अपने गुरु के मुँह से सुनी। इस सूकर खेत (शूकर क्षेत्र) को कुछ विद्वान 'सोरों' मानतें हैं, कुछ गोंडा जिले का 'सूकर खेत'।

तुलसी के गुरु का नाम बाबा नरहरिदास था। माता पिता के द्वारा छोड़ दिए जाने पर इन्होंने ने ही तुलसी का पालन–पोषण किया और ज्ञान भक्ति की शिक्षा–दीक्षा दी। तुलसीदास का विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था। अत्यधिक आसक्ति के कारण जब एक बार इन्हें अपनी पत्नी से मधुर भर्त्सना–'लाज न आई आपको दौरे आएहु साथ' मिली तब इनकी भवधारा सहसा लौकिक विषयों से विमुख होकर प्रभु प्रेम की ओर उन्मुख हो गई।

गोस्वामी तुलसीदास रचित 12 ग्रंथ प्रमाणिक माने जाते हैं, दोहावली, कवित्तरामायण (कवितावली), गीतावली, रामचरितमानस, रामाज्ञाप्रश्न, विनयपत्रिका, रामललानहछू, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, बरवै रामायण, वैराग्यसंदीपिनी, श्रीकृष्णगीतावली। रामचरितमानस की रचना गोसाईं जी ने सं० 1631 अर्थात् 1574 ई० में प्रारंभ की जैसा कि उनकी इस अर्धाली से प्रकट है–'संवत सोरह सौ इकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा'।

तुलसीदास हिंदी के अत्यंत लोकप्रिय कवि हैं। उन्हें हिन्दी का जातीय कवि कहा जाता है। उन्होंने हिंदी क्षेत्र की मध्यकाल में प्रचलित दोनों काव्य भाषाओं – ब्रजभाषा और अवधी में समान अधिकार से रचना की। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने मध्यकाल में व्यवहृत प्रायः सभी काव्यरूपों का उपयोग किया है। केवल तुलसीदास की ही रचनाओं को देखकर समझा जा सकता है कि मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में किन काव्यरूपों में रचनाएँ होती थी। उन्होंने वीरगाथा काव्य की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीत पद्धति, गंग आदि कवियों की कवित्त–सवैया पद्धति, रहीम के समान दोहे और बरवै, जायसी की तरह चौपाई–दोहे के क्रम में प्रबन्ध काव्य रचे। पं० रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में – ''हिन्दी काव्य की सब प्रकार की रचनाशैली के ऊपर गोस्वामी जी ने अपना ऊँचा आसन प्रतिष्ठित किया है। यह उच्चता और किसी को प्राप्त नहीं।''

तुलसीदास ने अपने जीवन और अपने युग के विषय में हिंदी के किसी भी मध्यकालीन कवि से ज्यादा लिखा है। तुलसी राम के सगुण भक्त थे, लेकिन उनकी भक्ति में लोकोन्मुखता थी। वे राम के अनन्य भक्त थे। राम ही उनकी कविता के विषय हैं। नाना काव्यरूपों में उन्होंने राम का ही गुणगान किया है, किन्तु उनके राम परमब्रह्म होते हुए भी मनुज हैं और अपने देशकाल के आदर्शों से निर्मित हैं। वस्तुतः 'रामचरितमानस' के प्रारंभ में ही तुलसी ने कौशलपूर्वक राम के बह्मत्व और मनुजत्व की सहस्थिति के विषय में पार्वती द्वारा शंकर से प्रश्न करा दिया है और 'रामचरितमानस' की पूरी कथा शंकर ने पार्वती को उस शंका के निवारणार्थ सुनाई है।

तुलसी ने वाल्मीकि और भवभूति के राम को पुनः प्रतिष्ठित नहीं किया। उन्होंने 'रामचरितमानस' में जिस राम को निर्मित किया, वे ब्रह्म होते हुए भी ऐतिहासिक स्थितियों के आधार पर व्यक्ति हैं। वे अपार मानवीय करुणा वाले हैं, गरीब निवाज हैं, दरिद्रता रूपी रावण का

नाश करने वाले और वाड्वाग्नि से भी भयंकर पेट की आग को बुझाने वाले हैं। तुलसी के राम, तुलसी के व्यक्तिगत संघर्ष और उनके युग की विषमता के आलोक में प्रकाशित हैं।

महान रचनाकारों की रचना में कोई–न–कोई द्वन्द्व होता है। रचना इस द्वन्द्व को पाटती है। दार्शनिक धरातल पर तुलसी के यहाँ यह द्वन्द्व राम के ब्रह्मत्व और मनुजत्व को लेकर है, जिसे पार्वती के प्रश्न के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। लौकिक धरातल पर यह द्वन्द्व 'कलिकाल' और 'रामराज्य' में है। तुलसी की सभी रचनाएँ इस द्वन्द्व को चित्रित करने और उन्हें शमित करने का आद्यंत प्रयास है।

तुलसी ने कलियुग का वर्णन विशेष रूप से कवितावली और रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में किया है। दरिद्रता, रोग, अज्ञान, कामासक्ति आदि कलियुग के प्रभाव से है। तुलसी ने महामारी, अकाल, बेरोजगारी आदि का मार्मिक वर्णन किया है। कवितावली में 'लंका दहन'' के प्रसंग में आग लगने का जो वर्णन है, यह अन्यत्र दुर्लभ है। चूँकि तुलसी ने अपने जीवन में अभावग्रस्तता और भूख का अनुभव किया था, इसलिए वे लोक में व्याप्त दरिद्रता का बहुत तीव्रता से अनुभव करके व्यथित हुए। इसीलिए उन्होंने राम को 'गरीब निवाज' और पेट की आग को बुझाने वाला कहा। इसीलिए उन्होंने दरिद्रता को जगत का सबसे पीड़ादायी दुख कहा।

तुलसीदास ने अपनी कविता में नारी जीवन के विविध चित्र खींचे हैं। उन्होंने नारी के प्रति अपार करुणा का भाव दिखाया है। मध्यकाल में शायद ही किसी अन्य कवि ने नारी की पराधीनता का उल्लेख इतने स्पष्ट तौर पर किया है 'कत विधि सृजी नारि जग माँही। पराधीन सपनेहुँ सुख नाही।' कैकेयी–मंथरा संवाद और शूपर्णखा प्रसंग यह प्रकट करते हैं कि वे इस देश की नारियों को अनेक रूपों में जानते थे।

तुलसी नारी निंदक ही नहीं, नारी सौन्दर्य से अत्यंत प्रभावित रचनाकार भी हैं, किन्तु वे रीतिकालीन रीतिबद्ध कवियों के समान नारी को केवल भोग्यारूप में ही चित्रित नहीं करते। उन्होंने सीता की जो वंदना की है, वह कन्या, माँ, और प्रिया तीनों रूपों में है– 'जनकसुता, जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुणानिधान की।'

तुलसीदास ने तात्कालीन सामंतों की लोलुपता पर प्रहार किया है। प्रजा–द्रोही शासक तुलसी की रचनाओं में प्रायः उनके कोप–भाजन बनते हैं। उन्होंने अकाल, महामारी के साथ–साथ प्रजा से अधिक कर वसूलने की भी निंदा की। अपने समय की विभिन्न धार्मिक साधनाओं के पाखंड का उद्घाटन किया। तुलसी की दृष्टि में जो बुरा है, वह कलिकाल का प्रभाव हैं। यहाँ तक कि लोग यदि वर्णाश्रम का पालन नहीं कर रहे हैं तो वह भी कलिकाल का प्रभाव है। विषमताग्रस्त कलिकाल तुलसी का युग है, जिसमें वे दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से रहित सर्वसुखद रामराज्य का स्वप्न बुनते हैं। रामराज्य तुलसी की आदर्श व्यवस्था है। इसके नायक और व्यवस्थापक तुलसी के राम हैं।

तुलसी आदर्श व्यवस्था का स्वप्न ही नहीं देखते, उसके अनुसार वे अपने पात्रों को गढ़ते भी हैं। वे राम को आदर्श राजा, पुत्र, भाई, पति, स्वामी, शिष्य, सीता को आदर्श पत्नी और हनुमान को आदर्श सेवक के रूप में चित्रित करते हैं। वस्तुतः रामोन्मुखता तुलसी का सबसे बड़ा आदर्श

और मूल्य है। राम से विमुख होकर सभी संबंध त्याज्य हैं– 'तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।'

'रामचरितमानस' या अन्य काव्यों में तुलसी दास ने कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान करते हुए उन्हीं अंशों का अधिक विस्तार दिया जो मार्मिक है, अर्थात जिनमें मनुष्य का मन देर तक रम या रस–मग्न हो सकता है, जैसे– पुष्पवाटिका प्रंसग, रामवन गमन, दशरथ मरण, भरत की ग्लानि, वन–मार्ग, लक्ष्मण–शक्ति। किसी स्थिति में पड़ा हुआ पात्र कैसी चेष्टा करेगा–इसे जानने और चित्रित करने में तुलसी अद्वितीय हैं। वे मानव मन के कुशल चितेरे हैं। चित्रकूट के राम और भरत मिलन के अवसर पर जो सभा जुड़ती है, उसमें राम, भरत, विश्वामित्र आदि के वक्तव्य मध्यकालीन शालीनता एवं वचन रचना का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

तुलसीदास जिस प्रकार ब्रजभाषा और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार रखते हैं, उसी प्रकार प्रबंध और मुक्तक दोनों की रचना में भी कुशल हैं। वस्तुतः तुलसी ने गीतावली, कवितावली आदि में मुक्तकों में कथा कही है। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार ''रामचरितमानस में तुलसी की करुणा समाजोन्मुख है, विनयपत्रिका में वह आत्मोन्मुख है। व्यक्तिगत एकांतिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से विनयपत्रिका भक्तिकाव्य में अनूठी है।''

तुलसी की काव्य–कला उनकी नाद–योजना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वे वर्णानुप्रास के कवि हैं। उन्होंने बोली विशेषतः अवधी शब्दों में संस्कृत शब्दावली को ऐसा घुलाया है कि पूरी पदावली अवधी के ध्वनि प्रवाह में ढल जाती है। इसलिए वे हिन्दी के सर्वाधिक स्मरणीय कवि हैं। उनकी पंक्तियाँ हिन्दी भाषी जनता की बोली में धुल–मिलकर भाषा का मुहावरा बन गई है। कोई भी शब्दकार इससे बड़ी सिद्धि की कल्पना नहीं कर सकता है। तुलसी भक्त हैं, लेकिन उनके राम तक पहुँचाने वाला रास्ता इसी लोक से होकर जाता है। इसीलिए वे महान लोक संग्रही कवि है।

नाभादास

गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन रामभक्तों में नाभादास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये अग्रदास के शिष्य थे। नाभादास की रचना भक्तमाल का हिन्दी साहित्य में अभूतपूर्व ऐतिहासिक महत्त्व है। इसकी रचना नाभादास ने 1585 ई के आसपास की । इसकी टीका प्रियादास ने 1712 ई0 में लिखी । इसमें 200 भक्तों के चरित 316 छप्पयों में वर्णित है। इसका उद्येश्य तो जनता में भक्ति का प्रचार था, किन्तु आधुनिक इतिहासकारों के लिए यह हिन्दी साहित्य के इतिहास का महत्त्वपूर्ण आधार ग्रंथ सिद्ध हुआ है। अवश्य ही इसमें भक्तों के चरित्र का वर्णन चमत्कार पूर्ण है, किन्तु उसे मध्यकालीन वर्णन शैली के रूप में ग्रहण करना उचित है। इन चमत्कारिक वर्णनों से तत्त्कालीन जनता की मानसिकता का पता लगता है। मध्यकाल में तथ्यपरकता पर कम ध्यान रहता था। वहाँ भाव प्रधान था, तथ्य गौण। फिर भी इस ग्रंथ से रामानंद, कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, आदि के विषय में अनेक तथ्यों का भी पता चल जाता है। कबीर के विषय में वे कहते है–*'कबीर कानि राखी नही वर्णाश्रम षट्दरशनी।'* मीरा के बारे में लिखा–*'निरअंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो।'* इन्होंने रामकथा से संबंधित काव्य लिखा। इनके लिखे दो अष्टयाम मिलते हैं।

केशवदास

केशवदास का जन्म 1555ई. में और मृत्यु 1617ई. के आसपास हुई थी। ओरछा नरेश महाराजा रामसिंह के भाई इन्द्रजीत सिंह की सभा में इनका पांडित्य के कारण अत्यधिक सम्मान था। इनके द्वारा लिखे गए सात ग्रंथ मिलते हैं–कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंहचरित्र, विज्ञानगीता, रतनबावनी और जहाँगीरजसचन्द्रिका। इनमें से रामचन्द्रिका (1601ई.) हिन्दी रामकाव्य परंपरा के अन्तर्गत एक विशिष्ट कृति है। विद्वानों का मत है कि केशव ने वाल्मीकि रामायण और तुलसी के 'रामचरितमानस' से प्रेरणा ग्रहण करते हुए 'रामचन्द्रिका' की रचना की। केशव विद्वान और आचार्य तो थे–पर उन्हें कवि हृदय नहीं मिला था। केशव ने राम को मर्यादा – पुरुषोत्तम के रूप में नहीं, एक रीतिकालीन वैभव सम्पन्न सामंत के रूप में प्रस्तुत किया। अलंकार और द्वन्द्वकला के प्रदर्शनकारी चमत्कारवाद के कारण 'रामचन्द्रिका' आभाहीन होती गई। फिर केशव का समय तो भक्तिकाल है, पर प्रवृत्तियाँ रीतिकालीन है। पंडितई उनके लिए बोझ है जिसके नीचे उनका कवि दबकर रह गया है।

तुलसीदास ने रामभक्ति काव्य को इतना उत्कर्ष प्रदान किया कि आगे के कवियों के लिए नवीन सर्जनात्मक संभावनाएँ लगभग समाप्त हो गई। यह भी सच है कि तुलसी के पश्चात राम भक्त कवि अधिक नहीं हुए। अग्नदास ने 'कुण्डलिया रामायण' और 'ध्यानमंजरी' में रामकथा का वर्णन किया है। प्राणचंद चौहान ने 'रामायण–महानाटक' तथा हृदयराम ने 'हनुमन्नाटक' का सृजन किया। लालदास ने 'अवध–विलास' लिखी।

कालांतर मे कृष्णभक्तिधारा की मुधरोपासना का प्रभाव रामभक्ति साहित्य पर भी पड़ा। इस धारा में भी सखी भाव से राम की उपासना प्रारंभ हुई और तत्सुखी शाखा की स्थापना हुई, जिसमें भक्त अपने को सीता की सखी रूप में रखकर राम की भक्ति में प्रवृत्त होता है। जनकपुर के भक्तों ने सीता को प्रधानता देकर कुछ राम काव्य रचे। 1703 ई0 में रामप्रियाशरण दास ने सीतायन नामक काव्य रचा। 'तत्सुखी शाखा' के समान 'स्वसुखी' भी प्रवर्तित हुई।

रामभक्ति काव्य धारा की सामान्य विशेषताएँ –

सगुण रामभक्ति काव्य में सामजिक मर्यादा के साथ लोक–चिंता, लोक मानस लोकरक्षा तथा लोकमंगल की भावना का प्राधान्य है। इस काव्यधारा के कवियों ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम को अपना आराध्य माना है। राम ही उनकी कविता के विषय है। नाना काव्यरूपों में उन्होंने राम का ही गुणगान किया है किन्तु उनके राम परमब्रह्म होते हुए भी मनुज हैं और अपने देशकाल के आदर्शों से निर्मित हैं। वे अपार मानवीय करुणा वाले हैं, गरीब निवाज हैं, तथा दरिद्रता रूपी रावण का नाश करने वाले हैं। रामचरितमानस में तुलसीदास ने जिस आदर्श व्यवस्था के रूप में रामराज्य का स्वप्न बुनते हैं उसमें जाति, वर्ण, धर्म, संप्रदाय, अमीर–गरीब, अपनी पृथक सत्ता खो देते हैं।

रामभक्ति काव्य परंपरा ने लोक और शास्त्र दोनों के सामंजस्य से अपना पथ प्रशस्त किया। ऊपर से उनकी रचना स्वांतः सुखाय, आत्म निवेदनात्मक, आत्मप्रबोध के लिए दिखाई देती हैं, लेकिन गहराई में हम पाते हैं कि लोक धर्म एवं लोकमंगल ही इस रचना कर्म की प्रेरणा भूमि है। ये सभी भक्त कवि भक्ति को लोक कल्याण के अहं के परिष्कार का माध्यम मानते हैं। भारत

के राममय होने का कारण भी यही है कि संत कवि तुलसीदास ने परंपरा के अमृत तत्त्वों को उसमें भर दिया है। रामभक्ति शाखा के कवियों ने अपने काव्य के लिए प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों शैलियों को अपनाया किन्तु इनका रूझान प्रबन्ध की ओर अधिक था। गेयपद और दोहा– चौपाई में निबद्ध कड़वक बद्धता उसके प्रधान रचना रूप है। इन कवियों ने अवधी एवं ब्रजभाषा दोनों में काव्य का सृजन किया। छप्पय, सवैया, कवित्त, भुजंगप्रयात, बरवै आदि रामकाव्य के बहुप्रयुक्त छंद हैं। तुलसीदास ऐसे भक्त कवि हैं, जिनके यहाँ मध्यकाल में प्रचलित प्रायः सभी काव्यरूप मिल जाते हैं। वास्तविकता यह है कि रामकथा समस्त भारतीय सौन्दर्य का प्रतिमान है।

कृष्ण भक्ति काव्यधारा

भारतीय परंपरा में राम और कृष्ण दो ऐसे विशिष्ट चरित्र हैं, जिसने संपूर्ण रचनाशीलता को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। उन्हें विष्णु के अवतार के रूप में देखा गया और भारतीय समाज में उन्हें व्यापक स्वीकृति मिली। प्रायः माना जाता है कि राम त्रेता के अवतार है और कृष्ण द्वापर के। पर विचारणीय तथ्य यह है कि कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास कुछ चरणों में हुआ और मध्यकाल तक आते–आते उनमें इतिहास के साथ गाथा का ऐसा संयोजन हो चुका था कि उन्हें 'सोलह कला अवतार' कहा गया। भारतीय रचनाशीलता ने कृष्ण के बालरूप से लेकर महाभारत तक के उनके व्यक्तित्व का उपयोग किया और वे ऐसे चरित्र हैं जो केवल साहित्य तक सीमित नहीं हैं, नृत्य, संगीत, चित्र, मूर्ति, लोक समग्र रचना–संसार में उनकी उल्लेखनीय उपस्थिति है। कृष्ण का चरित्र इतिहास के लंबे प्रवाह में रूपांतरित होता रहा है। महाभारत, भागवत, आलवार संत, जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास, से लेकर अष्टछापी कवियों, सूरदास आदि तक कृष्णकथा का स्वरूप एक ही नहीं है। समय एवं कवि की अपनी दृष्टि कृष्ण को रूपायित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इससे कृष्ण का बहुरंगी व्यक्तित्व निर्मित हुआ। मूलतः कृष्णभक्ति काव्य नारायण को नर की भूमिका में प्रस्तुत करता है और देवों के मानुषीकरण की प्रक्रिया को गति देता है।

भागवत् को भक्ति का प्रस्थान ग्रंथ स्वीकार किया जाता है जहाँ कृष्णलीला के उत्स मौजूद है, राधा की अनुपस्थिति अवश्य आश्चर्य में डालती है। लगभग इसी समय छठी–नौंवी शताब्दी के बीच तमिल आलवार संतो के पदों का संकलन दिव्यप्रबंधक है, जहाँ कृष्ण भक्ति को पूरी रागमयता में प्रस्तुत किया गया। आलवार संतो की भक्ति भावनामय है, पर भागवत को कृष्ण के अवतारी रूप का बराबर ध्यान है और उसमें ईश्वरत्व के संकेत निरंतर मौजूद हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनो रूपों के संयोजन से परवर्ती कृष्ण भक्तिकाव्य विकसित हुआ। एक ओर कृष्ण का मानव रूप है जो उनकी लीलाओं के माध्यम से व्यक्त हुआ, दूसरी आरे उनके देवत्व के संकेत भी हैं। आगे चलकर वैष्णवाचार्यों रामानुज, मध्य, निम्बार्क, विष्णुस्वामी ने भक्ति का प्रवृत्तिमार्गी दर्शन निर्मित किया एवं भक्ति के द्वार सभी जातियों के लिए खोले। इससे कृष्ण के चरित्र को व्यापकता एवं लोकप्रियता मिली।

कृष्ण भक्ति काव्य को दार्शनिक धरातल पर स्थापित करने के लिए निम्बार्क और वल्लभाचार्य का उल्लेख विशेष रूप से किया जाता है।

निम्बार्काचार्य (12–13वीं शताब्दी)

निम्बार्क देव कृष्ण के अथवा वासुदेव को सर्वोपरि परब्रह्म मानते हैं– सत्, चित और आनन्द से सम्पन्न। जो राधा भागवत में अनुपस्थित है वे निम्बार्क में महत्त्वपूर्ण स्थान पर है। इससे कृष्णभक्ति काव्य को नई गतिशीलता प्राप्त हुई। निम्बार्क संप्रदाय में यद्यपि प्रपत्ति अथवा शरणागति का भाव रामानुजाचार्य से साम्य रखता है, पर यहाँ आग्रह प्रेम भाव पर है। जिस राधा के लिए प्रायः ब्रह्मवैवर्त्त पुराण को आरंभिक प्रस्थान के रूप में स्वीकार किया जाता है, वह निम्बार्क संप्रदाय में विशिष्ट स्थान पर है। कृष्ण यदि सर्वेश्वर हैं तो राधा सर्वेश्वरी और इस प्रकार दोनों की समान स्थिति है। यहाँ राधा–कृष्ण की युगल मूर्ति की स्वीकृति है। इससे कृष्ण भक्तिकाव्य के लीला प्रसंग को नई भंगिमा प्राप्त हुई। प्रायः कहा जाता है कि कृष्णभक्तिकाव्य को नई दिशाओं में अग्रसर करने का श्रेय वल्लभाचार्य को है।

वल्लभाचार्य (15–16 वी शताब्दी)

वल्लभाचार्य ने कृष्णभक्ति धारा की दार्शनिक पीठिका तैयार की और देशाटन करके इस भक्ति का प्रचार किया। श्रीमदभागवत के व्यापक प्रचार से माधुर्य भक्ति का जो चौड़ा रास्ता खुला उसे वल्लभाचार्य ने अपने दार्शनिक प्रतिपादन और प्रचार से उस रास्ते को सामान्य जन–सुलभ बनाया। वल्लभाचार्य का जन्म 1477 ई. में और देहांत 1530 ई. हुआ था। वल्लभ का दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैत है जो शंकर के मायावाद का खंडन करता है। उन्होंने माया को ब्रह्म की शक्ति के रूप में निरूपित किया, पर यह भी प्रतिपादित किया कि ब्रह्म उसके आश्रित नहीं है। वल्लभ के लिए कृष्ण ही परब्रह्म है जो परमानंद रूप हैं– परम आनन्द के दाता । कल्पना की गई कि ब्रह्म कृष्ण का जो अविकृत रूप है, वह हर स्थिति में बना रहता है, वह शुद्ध अद्वैत है। रमण की इच्छा से, वे नर रूप ग्रहण करते हैं, जहाँ मुख्य आशय जीव के सुख और कल्याण है। इस प्रकार वल्लभ का भक्ति चिंतन जीव के मध्य एक घनिष्ट संबंध स्थापित करता है, जहाँ ब्रह्म लीला भूमि में संचरित होकर भी शुद्ध है, और जीव उससे तदाकार होकर आनन्द की उपलब्धि करता है।

दर्शन में जो शुद्धाद्वैत है, वह व्यवहार अथवा साधना पक्ष में पुष्टिमार्ग कहा जाता है, 'पुष्टि' का अर्थ है ईश्वर के अनुग्रह, प्रसाद, अनुकम्पा अथवा कृपा से पुष्ट होने वाली भक्ति। यहाँ ईश्वर की कृपा ही प्राप्य है, वही परम सुख और परम आनंद है। कृष्ण भक्ति में गोपिकाएँ मोक्ष की कामना नहीं करती, कृष्ण का दर्शन ही उनकी लालसा है, वही उनका सुख है। कृष्ण के प्रति निश्छल भाव से संपूर्ण समर्पण पुष्टि मार्ग का आग्रह है। इस प्रकार वल्लभाचार्य रामानुज की शास्त्रीय प्रपत्ति और शरणागति भाव को एक नई दीप्ति प्रदान करते हैं। उन्होंने राधा की कल्पना कृष्ण की परम आह्लादिनी शक्ति के रूप में की है।

कृष्ण भक्ति काव्य मध्यकालीन सामंती समाज की उपज है पर उसका वैशिष्ट्य यह है कि वह उसे संवेदना के धरातल पर ललकारता भी है। सामंती देहवाद के स्थान पर वह प्रेममय रागभाव को स्वीकृति देता है, जिसका पर्यवसान भक्ति में होता है। जिस गोकुल–वृन्दावन में कृष्णलीला का सर्वोत्तम रचाया गया, वह बैकुंठ समान है। कृष्ण, जीव के सुख के लिए अवतरित होते हैं, और वे निर्विकार हैं। बाल लीलाओं के माध्यम से कृष्ण का निर्मल रूप उभरता है और

गोवर्धन लीला जैसे प्रसंगो से कृष्ण के व्यक्तित्व का लोकरक्षक रूप स्थापित होता है, क्योंकि वे इन्द्र को चुनौती देते हैं। कृष्ण का व्यक्तित्व खुली भूमि पर है, जिसमें प्रकृति की भी भूमिका है। यहाँ यथार्थ लोकसंस्कृति के माध्यम से आया है, इसलिए उसकी पहचान कठिन है।

कृष्ण भक्तिकाव्य शास्त्र के स्थान पर लोक का वरण करता है और कर्मकांड आदि की यहाँ कोई अनिवार्यता नहीं है। उपास्य–उपासक के मध्य सीधा संवाद इसकी विशेषता है। कृष्ण की जो लोक छवि लीलाओं के माध्यम से उभरती है, वही उन्हें पूज्य बनाती है। इसलिए कवियों का आग्रह सगुण भक्ति पर है। जिसका आधार कृष्ण की विभिन्न लीलाएँ हैं– बालजीवन, माखनलीला, वृन्दावनविहार, रास आदि। भ्रमरगीत प्रसंग में गोपिकाएँ ऊधौ द्वारा प्रतिपादित निर्गुण को अस्वीकार कर देती हैं। मर्यादा के स्थान पर यहाँ रागात्मकता का आग्रह है। कृष्णभक्तिकाव्य में अष्टछाप का विशेष उल्लेख किया जाता है।

अष्टछाप

वल्लभाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवादी पुष्टिमार्ग की स्थापना की थी। आगे चलकर उनके पुत्र विठ्ठलनाथ ने अष्टछाप कवियों की परिकल्पना की, जिन्हें कृष्णसखा भी कहा गया। इनमें चार वल्लभाचार्य के शिष्य हैं– सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास और कृष्णदास। विट्ठलनाथ के शिष्य है– नंददास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भजदास। वल्लभ संप्रदाय में अष्टछाप कवियों का विशेष स्थान है। कहा जाता है कि जब गोवर्धन में श्रीनाथ की प्रतिष्ठा हो गई तब ये भक्तकवि अष्टछाप सेवा में संलग्न रहते थे– मंगलाचरण–शृंगार से लेकर सन्ध्या आरती और शयन तक। अष्टछाप के कवियों में सूरदास सर्वोपरि हैं जिन्हें भक्तिकाव्य में तुलसी के समकक्ष माना जाता है। तुलसीदास आचार्य रामचंद्र शुक्ल के प्रिय कवि हैं, पर उन्होंने भी स्वीकार किया है कि मार्धुय भाव में 'सूरसागर' रस का आगार है और जहाँ तक वात्सल्य तथा शृंगार का प्रश्न है, सूर सर्वोपरि है। यहाँ हम इन अष्टछाप के कवियों और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे।

सूरदास

अष्टछाप के कवियों में सूरदास का स्थान सर्वोपरी है। इनका जन्म 1483 ई. के आसपास माना जाता है। इनकी मृत्यु अनुमानतः 1563 ई. के लगभग हुई। इनके बारे में भक्तमाल और चौरासी वैष्णवन की वार्ता से थोड़ी बहुत जानकारी मिल जाती है। 'आइने अकबरी' और 'मुंशियात अब्दुलफजल' में भी किसी संत सूरदास का उल्लेख है, किन्तु वे बनारस के कोई और सूरदास प्रतीत होते हैं, अनुश्रुति यह अवश्य है कि अकबर बादशाह सूरदास का यश सुनकर उनसे मिलने आए थे। 'भक्तमाल' में इनकी भक्ति, कविता एवं गुणों की प्रशंसा है तथा इनकी अंधता का उल्लेख है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार वे आगरा और मथुरा के बीच साधु या स्वामी के रूप में रहते थे। वे वल्लभाचार्य के दर्शन को गए और उनसे लीलागान का उपदेश पाकर कृष्ण–चरित्र विषयक पदों की रचना करने लगे। कालांतर में श्रीनाथ जी के मंदिर का निर्माण होने पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इन्हें कीर्तन का कार्य सौंपा।

सूरदास के विषय में कहा जाता है कि वे जन्मांध थे। उन्होंने अपने को जन्म का आँधर कहा भी है। लेकिन सूर काव्य में प्रकृति और जीवन का जो सूक्ष्म सौंदर्य चित्रित है उससे यह नहीं

लगता कि वे जन्मांध थे। उनके विषय में ऐसी कहानी भी मिलती है कि तीव्र अंतर्द्वन्द्व के किसी क्षण में उन्होंने अपनी आँखें फोड़ ली थी। उचित यही मालूम पड़ता है कि वे जन्मांध नहीं थे। कालांतर में अपनी आँखों की ज्योति खो बैठे थे। सूरदास अब अंधों को कहते हैं। यह परंपरा सूर के अंधे होने से चली है। सूर का आशय 'शूर' से भी है। शूर और सती मध्यकालीन भक्त साधकों के आदर्श थे।

सूरदास के पहले ब्रजभाषा में काव्य रचने की परंपरा तो मिल जाती है, किन्तु भाषा की यह प्रौढ़ता, चलतापन और काव्य का यह उत्कर्ष नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि सूर ब्रजभाषा काव्य के प्रवर्तक न हो, किसी परंपरा के चरमोत्कर्ष हों। आचार्य शुक्ल ने सूर को एक ओर जयदेव, चंड़ीदास और विद्यापति की परंपरा से जोड़ा है, दूसरी ओर लोकगीतों की परंपरा से। विद्यापति और सूरदास में जो निरीहता, तन्मयता मिलती है, अनुभूतियों को जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के ताने बाने में बुना गया है, वह लोकगीतों की विशेषता है। लगता है कि लोकजीवन और साहित्य में राधा–कृष्ण की जो परंपरा पहले से चली आ रही थी, वह भक्तिकाल में प्रकट हुई। जयदेव का गीत गोविन्द, विद्यापति की पदावली, चंडीदास का काव्य और सूरदास का सूरसागर उसी परंपरा से जुड़े हैं।

सूरदास वात्सल्य और शृंगार के कवि हैं। भारतीय साहित्य क्या, संभवतः विश्व–साहित्य में कोई कवि वात्सल्य के क्षेत्र में उनके समकक्ष नहीं है। यह उनकी ऐसी विशेषता है कि केवल इसी के आधार पर वे साहित्य क्षेत्र में अत्यंत उच्च स्थान के अधिकारी माने जा सकते हैं। बाल–जीवन का पर्यवेक्षण एवं चित्रण महान सहृदय और मानवप्रेमी व्यक्ति ही कर सकता है। सूरदास ने वात्सल्य एवं शृंगार का वर्णन लोक सामान्य की भाव–भूमि पर किया है। मार्मिकता, मनोवैज्ञानिकता, स्वाभाविकता जीवन के यथार्थ में ही होते है। तुलसी की अपेक्षा सूर का विषय क्षेत्र सीमित अवश्य है, किन्तु सूर ने राधाकृष्ण की प्रेमलीला और कृष्ण की बाल लीला को प्रकृति और कर्म के विशद क्षेत्र का संदर्भ प्रदान कर दिया है। लोक साहित्य में यह सन्दर्भ सहज तौर पर जुड़ा दिखलाई देता है। सूर ने अपनी रचना में प्रकृति और जीवन के कर्म के क्षेत्रों को अचूक कौशल से उतार लिया है। लोक साहित्य की सहज जीवंतता जितनी सूर के साहित्य में मिलती है, हिंदी के किसी कवि में नहीं।

सूर की बाल–लीला वर्णन अपनी सहजता, मनौवैज्ञानिकता एवं स्वाभाविकता में अद्वितीय है। उनका काव्य बाल–चेष्टाओं के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का भण्डार है। भक्ति ने भगवान का मानवीकरण कर दिया था। सूर के कृष्ण सामान्य गृहस्थ के बालक बन गए हैं, जो हठ करके आँगन मे लोटने लगते हैं– 'काहे को आरि करत मेरे मोहन। यों तुम आँगन लेटी।' यशोदा दही मथ रही थी। कृष्ण हठ करने लगे। आकर आँचल पकड़ लिया। दही भूमि पर ढुलक गया। कृष्ण चलना सीख रहे है। पैर डगमगाते हैं। यशोदा हाथ पकड़कर उन्हें चलना सिखाती है– 'सिखवत चलन जशोदा मैया, अरबराय करि पानि गहावति डगमगात धरै पैयाँ।'

सूरदास के यहाँ राधा– कृष्ण का प्रेम परिचय से विकसित हेाता है। वह प्रकृति और कर्म–क्षेत्र की पृष्ठभूमि में पुष्पित–पल्लवित होता है। गोचारण जीवन में प्रकृति का पूरा अवकाश है।

सूर के राधा–कृष्ण की प्रेमलीला में प्रकृति, गाएँ और ग्वाल–बाल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी से उनकी प्रेमलीला जीवन से कहीं कटी अलग–थलग नहीं है। राधा और कृष्ण के प्रथम परिचय का जो चित्र सूर ने खींचा है, वह उनके लोक परिचय का प्रमाण है। साहित्य में प्रेम के सूत्रपात का ऐसा जीवंत चित्र बहुत दुलर्भ होगा –

बूझत श्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज–खोरी।
काहे को हम ब्रज– तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति स्रवननि नंद ढोटा, करत फिरत माखन–दही चोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी।

सूरदास द्वारा चित्रित राधा कृष्ण की प्रेमलीला में मध्यकालीन पराधीन नारी के सहज एवं स्वाधीन जीवन का स्वप्न जैसे साकार हो उठा है। यह स्वप्न सर्वाधिक साक्षात् रास–लीला वर्णन में होता है। सूरदास के समय अर्थात् 16 वीं शती में ब्रज में नारियों को वह स्वाधीनता नहीं थी, जिसका वर्णन सूरसागर में मिलता है। गोपियाँ लोक–लाज तजकर घर की चारदीवारी ही नहीं तोड़ती, वे कृष्ण की बाँसुरी सुनकर उस सामाजिक व्यवस्था को भी तोड़ती है, जो नारियों को पराधीन रखती है। जिस तरह तुलसी ने मध्यकालीन भारत में दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों से रहित रामराज्य का स्वप्न देखा है, वैसे ही सूर ने कृष्ण–कथा और रास–लीला के माध्यम से एक ऐसा सर्वसुखद स्वप्न देखा है जिसमें नारी और पुरुष दोनों समान तौर पर स्वाधीन हैं। रास–लीला सुख विभोर मानवता का सजीव गतिमय स्पंदित चित्र है। यहाँ मनुष्य सृष्टि के साथ ताल, लय, गति, प्राण, अनुभूति सभी तरह से एकमेक हो गया है। सूर का विरह–वर्णन भी अधिकांशतः स्वाभाविक पद्धति से चित्रित है। इनमें भी कृष्ण की स्मृति प्रायः दैनंदिन जीवन प्रसंगो में आती है। सूर के विरह वर्णन की मार्मिकता का आधार विरहावस्था में हृदय की नाना वृत्तियों का स्वाभाविक पद्यति पर चित्रण है। विरह वर्णन वहाँ उत्कृष्ट हैं, जहाँ गोपिकाओं की निरीह विवशता प्रकट होती है।

सूरदास के गेयपद मुक्तक हैं, किन्तु उनमें प्रबंधात्मकता का रस हैं। इसलिए उन्हें गेयपद के साथ–साथ 'लीला पद' भी कहा जा सकता है। वे ब्रजभाषा के प्रथम प्रतिष्ठित कवि हैं। उनकी भाषा में साहित्यिकता के साथ चलतापन एवं प्रवाह भी है। कहीं–कहीं वे 'गीतगोविन्द' के वर्णानुप्रास की शैली भी अपना लेते हैं। उनकी कविता में लोकसाहित्य की सरलता ही नहीं, काव्य परंपरा से सुपरिचित रूढ़ियों का उपयोग भी है। सूर की एक अन्य विशेषता नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना है। उन्होंने कृष्ण–कथा, विशेषतः बाल–लीला एवं प्रेम–लीला के अंशों को नवीन मनोरंजक वृत्तों से भर दिया है जैसे– दान–लीला, मान–लीला, चीरहरण आदि। गेयपदों में सूरदास ने पूरे ब्रज की जो दारुण व्यथा उभारी है, वह व्यथा प्रभाव की दृष्टि से नाटकों और महाकाव्यों में मिलनेवाली करुणा के समान है।

कुंभनदास

वल्लभाचार्य के अष्टछापी शिष्यों में कुंभनदास प्रथम शिष्य थे। वे पूरे विरक्त और धन, मान, मर्यादा, की इच्छा से कोसों दूर भक्त के रूप में जाने जाते हैं। कहा जाता है कि वे गोवर्धन पर्वत से कुछ दूर 'जमुनावतौ' नामक गाँव में रहा करते थे। कुंभनदास गृहस्थ होते हुए भी कृष्ण भक्ति में लीन रहने वाले साधुवृत्ति के पुरुष थे। 1492 ई. में वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के बाद वे श्रीनाथ मंदिर में कीर्तन गान करने लगे। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि चतुर्भुजदास इनके ही सबसे छोटे पुत्र थे। एक बार अकबर बादशाह के बुलाने पर इन्हें फतेहपुर सीकरी जाना पड़ा, जहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ। पर इसका इन्हें बहुत बड़ा खेद ही रहा, जैसा कि इस पद से व्यंजित होता है –

संतन को कहा सीकरी सों काम?
आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि, गयो हरि नाम।।
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम।।

पूरे भक्तिकाल में यह अपनी तरह का एक ही उदाहरण है। कुंभनदास द्वारा रचित किसी स्वतंत्र ग्रंथ का उल्लेख नहीं मिलता है। उनके कुछ पद रागकल्पद्रुम, रागरत्नाकर, वर्षोत्सव कीर्तन आदि में संकलित हैं। कुंभनदास की पद रचना में साहित्यिक सौष्ठव उतना नहीं है जितना संगीत और लय का सौन्दर्य है। उनकी काव्य भाषा साधारण ब्रजभाषा है।

परमानंददास

अष्टछाप के कवियों में इनका विशेष स्थान था। अनुश्रुतियों के आधार पर इनका जन्म 1493 ई. माना जाता है एवं ये वल्लभाचार्य से 15 वर्ष छोटे थे। परमानंद का जन्म उज्जैन के कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बचपन से ही काव्य रचना में इनकी प्रवृत्ति थी एवं संगीत का भी अच्छा ज्ञान था। ये अविवाहित थे और धनार्जन के लिए किसी तरह का व्यवसाय से नहीं जुड़े थे। उन्होंने अरैल (प्रयाग) में वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण की।

परमानंददास की रचनाओं का प्रकाशन परमानंदसागर, परमानंद के पद और वल्लभसंप्रदायी कीर्तन पद संग्रह के नाम से हुआ है। परमानंदसागर में 835 पद संकलित हैं। इनके पदों में सूरसागर की भाँति भागवत की कथा का वर्णन नहीं है, अपितु इन्होंने कृष्ण के मथुरा गमन से भँवरगीत तक के प्रसंग का ही मुख्यतः वर्णन किया है। परमानंद जी के सर्वाधिक पद बाललीला से संबंधित है। वियोग शृंगार के वर्णन में परमानंददास ने विशेष ख्याति प्राप्त की। भाषा की दृष्टि से इनकी ब्रजभाषा बेजोड़ है। चित्रात्मकता, आलंकारिता और प्रांजलता इनकी भाषा के विशेष गुण हैं, अष्टछाप के कवियों में काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से सूरदास और नंददास के बाद इन्हीं का स्थान है। कृष्ण भक्ति से जुड़ी एक पद देखें –

जब ते प्रीति श्याम ते कीनी।
ता दिन से मेरे इन नैननि नेंकहु नींद न लीनी।।

कृष्णदास

कृष्णदास जन्मना शुद्र होते हुए भी वल्लभाचार्य के कृपा–पात्र थे। अपनी बुद्धि एवं भक्ति के कारण ये श्रीनाथ जी के मंदिर में अधिकारी पद पर आसीन हुए। इनका जन्म गुजरात के राजनगर (अहमदाबाद) राज्य के चिलोतरा गाँव में 1496 ई. में हुआ था। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी इनकी कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा के बड़े प्रशंसक थे। इनकी प्रबन्धपटुता के कारण इन्हें मंदिर में प्रबंध का दायित्व सौंपा गया था। कृष्णदास काव्य एवं संगीत के मर्मज्ञ होने के साथ सुकवि और गायक भी थे। इन्होंने बाल–लीला, राधाकृष्ण प्रेम–प्रसंग, रूप सौन्दर्य का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। मातृभाषा गुजराती होते हुए भी कृष्णदास ने न केवल ब्रजभाषा पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लिया था बल्कि उनके शृंगारपूर्ण पदों में ब्रजभाषा की प्रांजलता देखने योग्य है। ऐसा माना जाता है कि 1578 ई. में कुआँ बनवाते समय उसी में गिरकर इनकी मृत्यु हुई थी। इनका एक पद इस प्रकार है–

मो मन गिरिधर छवि पै अट्क्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलि कै, चिबुक चारि गढ़ि ठटक्यों।

नंददास

नंददास का जन्म 1533 ई. में उत्तरप्रदेश के सूकर क्षेत्र के रामपुर गाँव में हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। दौ सो बावन वैष्णवन की वार्ता के अनुसार ये तुलसीदास के भाई थे, किन्तु अब यह बात प्रामाणिक नहीं मानी जाती। ये गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इनके काव्य के विषय में यह उक्ति प्रसिद्ध है–**'और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया।'** इससे प्रकट होता है कि इनके काव्य का कलापक्ष महत्त्वपूर्ण है। इनकी प्रमुख कृतियों के नाम इस प्रकार हैं – 'रासपंचाध्यायी', 'सिद्धांतपंचाध्यायी', 'भागवत दशम स्कंध', 'रुक्मिणी मंगल', 'रूपमंजरी', 'रसमंजरी दानलीला', 'मानलीला', 'भँवरगीत' आदि। इनके यश का आधार 'रासपंचाध्यायी' है। यह भागवत के 'रासपंचाध्यायी' अंश पर आधारित है एवं रोला छंद मे रचित है। कृष्ण की रासलीला का वर्णन इस काव्य में कोमल एवं स्वानुप्रासिक पदावली में किया गया है, जो संगीतात्मकता से युक्त है। सिद्धांत पंचाध्यायी भक्ति सिद्धांत का परिचायक ग्रंथ है और रसमंजरी नायिका भेद का। रूपमंजरी में इसी नाम की एक भक्त महिला का चरित्र वर्णित है। नंददास ने अनेक काव्यरूपों में रचना की है। वे काव्य शास्त्र से सुपरिचित कवि ज्ञात होते हैं। इनकी अन्य रचनाओं में 'भँवरगीत' दर्शन, विवेक, तर्क, भक्ति सभी दृष्टि से श्रेष्ठ कृति है। इनका एक पद द्रष्टव्य है –

कहन श्याम संदेश एक मै तुम पै आयो।
कहन सभय संकेत कहूँ अवसर नहिं पायो।।
सोचत ही मनमें रह्यों कब पाऊँ इक ठाउँ।
कहि संदेश नंदलाल को, बहुरि मधुपुरी जाउँ।।

गोविन्द स्वामी

गोविन्दस्वामी का जन्म राजस्थान के भरतपुर क्षेत्र के आँतरी गाँव में सन् 1505 ई० में हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे एवं विरक्त की भाँति आकर ब्रजमण्डल के महावन में रहने लगे थे। स्वामी विट्ठलनाथ ने इन्हें पुष्टि मार्ग की दीक्षा प्रदान की। वार्ता ग्रंथों से विदित होता है कि ये शिक्षित थे और संगीतशास्त्र का भी इन्हें ज्ञान था। जनश्रुति है कि अकबर दरबार का प्रसिद्ध गायक तानसेन इनसे संगीत की शिक्षा ग्रहण की। इनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ है। फुटकल दोहों का संकलन 'गोविन्दस्वामी के पद' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके पुष्टि–संप्रदाय से संबंधित 252 पद ज्यादा चर्चित है। जिनमें राधा कृष्ण की श्रृंगार लीला का विशेष चित्रण है।

छीतस्वामी

छीतस्वामी का जन्म मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण परिवार में सन् 1515 ई. में हुआ था। प्रारम्भ में ये मथुरा के एक सुसम्पन्न पण्डा थे और मंत्री बीरबल ऐसे लोग इनके जजमान थे। पंडा होने के कारण ये बड़े अक्खड़ और उद्दंड थे, बाद में गोस्वामी विट्ठलनाथ से दीक्षा ग्रहण कर परम शांत भक्त हो गए। काव्य और संगीत में इनकी विशेष रुचि थी। इनके पदों में श्रृंगार के अतिरिक्त ब्रज भूमि के प्रति प्रेमव्यंजना भी पाई जाती है। 'हे विधना तोसों अँचरा पसारि माँगी जनम जनम दीजौ चाही ब्रज बसिबो' पद इन्हीं का है। इनके पदों में मधुरता एवं सरसता का एक उदाहरण देखिए –

भोर भए नवकुंज सदन तें, आवत लाल गोवर्धनधारी।
लटपट पाग मरगजी, माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी।।

इन्होंने जो स्फुट पद रचना की वही 'पदावली' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें लगभग 200 पद संकलित हैं।

चतुर्भुजदास

चतुर्भुजदास का जन्म 1530 ई. में गोवर्धन के समीप जमुनावतौ गाँव में हुआ था और ये अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुंभनदास के सबसे छोटे पुत्र थे। इनका निधन 1585 ई. में हुआ। शैशव काल में ही चतुर्भुदास काव्य रचना करने लगे थे। इनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं, स्फुट पदों को ही चतुर्भुज कीर्तन संग्रह, कीर्तनावली और दानलीला शीर्षकों से प्रकाशित किया गया है।

अन्य कृष्ण भक्त कवि–

हितहरिवंश

राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक गोसाईं हितहरिवंश का जन्म मथुरा के नजदीक बांदगाँव में सन् 1502 ई० को हुआ था। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र और माता का नाम तारावती था। कहते हैं कि हितहरिवंश पहले मध्वानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। पीछे इन्हें स्वप्न में राधिका जी ने मंत्र दिया और इन्होंने अपना अलग संप्रदाय चलाया। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान और भाषाकाव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। इन्होंने 1525 ई० में श्री राधावल्लभ की मूर्ति वृंदावन में स्थापित की।

'हित चौरासी' में इनकी कविताएँ संकलित है। जिसमें 84 पद हैं। इनके प्रसिद्ध शिष्यों में हरिराम व्यास, सेवकजी, ध्रुवदास आदि का नाम आता है। अपनी रचना की मधुरता के कारण हितहरिवंश जी को 'श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार' कहे जाते हैं। हितहरिवंश द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय में राधा की भक्ति की प्रधानता है। इसमें विधि–निषेध का व्याज है। हितहरिवंश ने राधा विषयक अत्यंत सरस रचनाएँ की हैं –

ब्रज नव तरूनि कदंब मुकुटमनि स्यामा आजु बनी।
नख सिख लौं अंग माधुरी मोहे श्याम धनी।।

मीराबाई

हिन्दी की श्रेष्ठ कवयित्री मीराबाई का जन्म 1516 ई. में मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह के यहाँ हुआ। इनके व्यक्तित्व के इर्द–गिर्द अनेक किवंदंतियाँ गढ़ ली गई हैं। ये महाराणा साँगा की पुत्रवधु और महाराजा कुमार भोजराज की पत्नी थी। बचपन से ही मीरा कृष्ण भक्ति में लीन रहा करती थी। कहा जाता है कि विवाह के कुछ वर्षों के बाद जब इनके पति का देहांत हो गया तो ये साधु संतो के बीच भजन कीर्तन करने लगी। राजपरिवार ने इनका विरोध किया। खिन्न होकर इन्होंने राज्यकुल छोड़ दिया। इनकी मृत्यु 1546 ई. में द्वारिका में हुई।

मीरा को भक्त होने के लिए लोकलाज छोड़नी पड़ी और यही बात राणा को खलती थी। लोक–लाज तजने की बात मीरा की कविताओं में बार–बार आती है। मीराबाई की उपासना माधुर्य भाव की थी। वे अपने इष्टदेव श्री कृष्ण को अपना प्रियतम या पति मानती थी। मीरा ने अपने गिरधर नागर कृष्ण का जो रूप निर्मित किया है, वह अत्यंत मोहक है। मीरा के रूप चित्रण की यह भी विशेषता है कि वह प्रायः गत्वर होता है। गिरधर नागर को प्रायः सचेष्ट अंकित किया जाता है, या तो वे मुरली बजाते है या मंद–मंद मुसकाते हैं या मीरा की गली में प्रवेश करते हैं। मीरा नारी–सुलभ लज्जा के कारण उनसे सीधे बात कम करती है। उनके सामने न रहने पर यानि वियोगावस्था में वे उनसे वार्तालाप करती हैं, अनुनय विनय करती हैं। विरह मीरा के जीवन का भी सबसे बड़ा यथार्थ है और उनके काव्य का भी। मीरा के विरह की सच्चाई का लक्षण यह हैं कि वे विरह की ताप से मुक्त होना चाहती हैं। मीरा के यहाँ विरह–वेदना उनका यथार्थ है तो कृष्ण से मिलन उनका स्वप्न। मीरा के जीवन के यथार्थ की प्रतिनिधि पंक्ति हैं–'अंसुवन जल सींचि–सींचि, प्रेम बेल बोई' और उनके स्वप्न की प्रतिनिधि पंक्ति हैं 'सावन माँ उमरयो म्हारो हियरा भणक सुण्या हरि आवण री' मीरा के काव्य में मध्यकालीन नारी का जीवन बिम्बित है।

मीरा भक्त कवि है। उनकी व्याकुलता एवं वेदना उनकी कविता में निश्छल अभिव्यक्ति पाती है। मीरा की कविता में रूप–रस और ध्वनि के प्रभावशाली बिम्ब हैं। वे अपनी कविता में निहित वेदना को श्रोताओं और पाठकों के अनुभव के माध्यम से संप्रेषित करती है–

जोगी मत जा मत जा मत जा, पाँई परूँ मैं तेरी चेरी हौं।।
प्रेम भगति को पैड़ों ही न्यारो हमकूँ गैल बता जा।
अगर चँदण की चिता रचाऊँ, अपने हाथ जला जा।
जल बल भई भस्म की ढेरी, अपने अंग लगा जा।

मीराँ कहै गिरधर नागर जोत में जोत मिला जा।।

रसखान

रसखान के जन्म समय, शिक्षा–दीक्षा, कार्य व्यवसाय, निधन काल आदि के विषय में कोई प्रामाणिक साक्ष्य अभी तक उपलब्ध नहीं है। इनका वृत्तांत दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता में मिलता है, और इससे प्रकट होता है कि ये लौकिक प्रेम से कृष्ण प्रेम की ओर उन्मुख हुए। इनकी प्रसिद्ध कृति 'प्रेमवाटिका' का रचनाकाल 1614 ई. है। कहते हैं कि वे गोसाईं विट्ठलनाथ के बड़े कृपापात्र शिष्य थे।

रसखान ने कृष्ण का लीलागान गेयपदों में नहीं, सवैयों में किया है। रसखान का सवैया छंद सिद्ध था। जितने सरस, सहज, प्रवाहमय सवैये रसखान के हैं उतने शायद ही किसी अन्य हिंदी कवि के हों। उनके सवैयों की मार्मिकता का बहुत बड़ा आधार दृश्यों और बाह्यांतर स्थितियों की योजना में है। वही योजना रसखान के सवैयों के ध्वनि–प्रवाह में है। ब्रजभाषा का ऐसा सहज प्रवाह अन्यत्र बहुत कम मिलता है। रसखान सूफियों का हृदय लेकर कृष्ण की लीला पर काव्य रचते हैं। उनमें उल्लास मादकता और उत्कटता तीनों का संयोग है। रसखान प्रेम भावना की अछूती स्थितियों की योजना करते हैं। रसखान की तीन रचनाएँ मिलती हैं। सुजान रसखान, प्रेमवाटिका और दानलीला। रसखान वास्तव में रस की खान हैं क्योंकि उनके काव्य में प्रेम, भक्ति और शृंगार तीनों की अजस्र धारा प्रवाहित है–

प्रान वही जु रहैं, रिझि वापर रूप वहीं लिहिं वाहि रिझाओ
सीस वही जिन वे परसे पद अंक वही जिन वा परसायो।।
दूध वही जु दुहायो री वाही दही सु सही जो वही ढरकायो
और कहाँ लौं कहाँ रसखानि री भाव वही जु वही मनभायो।।

कृष्णभक्त कवियों की सुदीर्घ परंपरा है। स्वामी हरिदास (16वीं शती), हरिराम व्यास (16वीं शती), सुखदास (17वींशती), लालचदास (16वी शती), नरोत्तमदास (16वीं शती), रहीम (16वीं शती) आदि अन्य कृष्ण भक्त कवि है। इनमें नरोत्तमदास का सुदामा चरित्र अपनी मार्मिकता और सहज प्रवाह के कारण बहुत लोकप्रिय है। सुदामा की संतोषीवृत्ति, दीनता, कृष्ण के प्रति मैत्री भाव का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन कवि ने किया है। कृष्ण भक्त कवियों में रहीम का नाम भी उल्लेखनीय हैं। उन्होंने तुलसी के समान अवधी और ब्रजभाषा दोनो में अधिकारपूर्वक काव्य–रचना की है। रहीम के भक्ति और नीति के दोहे आज भी लोगों की जुबान पर हैं।

कृष्ण भक्ति काव्य की सामान्य विशेषताएँ –

कृष्ण भक्ति साहित्य के माध्यम से कृष्ण का व्यक्तित्व कई रूपों में हमारे सामने आता है। लीला पुरुषोत्तम से लेकर लोकदेवता के रूप में उनका महत्त्व जनमानस में व्याप्त है। कृष्ण भक्तिकाव्य के सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत का विशेष महत्त्व है। भागवत में भक्ति को सर्वजनसुलभ बताया गया हैं। कृष्ण भक्ति के सन्दर्भ में दार्शनिक वाद–विवादों की अपेक्षा उसका लोकरूप अधिक प्रभावशाली होकर उभरा है। सूरदास के काव्य को पशुचारण काव्य की संज्ञा दी गई है। पशुचारण काव्य में जिन आदिम मनोभावों की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार की अभिव्यक्ति हमें सूर के काव्य में

मिलती है। कृष्ण भक्तिकाव्य की मधुरता ने मुसलमान कवियों को भी पर्याप्त संख्या में अपनी ओर आकृष्ट किया। कृष्ण भक्ति साहित्य प्रधानतः भगवान के लोकरंजक रूप को उजागर करता है।

कृष्ण भक्त कवियों में अनुभूति की तन्मयता थी, इसके कारण इस धारा के कवियों में संगीतात्मक चेतना का प्रसार हुआ। अधिकतर कृष्णभक्त कवियों के काव्य में लयात्मक सौन्दर्य मिलता है। इसी कारण कृष्णभक्त कवि जनता में लोकप्रिय हुए। कृष्णभक्त कवियों के प्रभाव से ब्रजभाषा का विकास अखिल भारतीय स्तर पर हुआ। कृष्णभक्त कवियों ने सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में कृष्ण काव्य को प्रस्तावित किया था।

•••

अभ्यास प्रश्न –

वस्तुनिष्ठ प्रश्न –

01. किस आलोचक ने भक्ति को 'धर्म की भावात्मक अनुभूति' माना है?
(क) डॉ0 नगेन्द्र (ख) हजारी प्रसाद द्विवेदी (ग) रामचन्द्र शुक्ल (घ) डॉ0 रामविलास शर्मा

02. आलवार मत के इष्ट देवता हैं–
(क) विष्णु (ख) राम (ग) शिव (घ) कृष्ण

03. 'भक्ति आंदोलन भारतीय चिन्ताधारा का स्वाभाविक विकास है', कथन है–
(क) रामचन्द्र शुक्ल (ख)डॉ0 रामकुमार वर्मा (ग) डॉ0 नगेन्द्र (घ) हजारी प्रसाद द्विवेदी

04. 'रामचरितमानस' की भाषा है–
(क) ब्रजभाषा (ख) अवधी (ग) सधुक्कड़ी (घ) भोजपुरी

05. इनमें से कौन कवि संत काव्यधारा से नहीं जुड़े है?
(क) रैदास (ख) मीरा (ग) कबीर (घ)सुंदरदास

06. हिंदी सूफी काव्यधारा के प्रथम कवि किसे माना जाता है?
(क) कुतुबन (ख) जायसी (ग) मुल्ला दाउद (घ) उसमान

07. तुलसीदास के गुरु का नाम है–
(क) रामानंद (ख) बाबा नरहरि दास (ग) मलूकदास (घ) राघवानंद

08. अष्टछाप के कवि नहीं हैं–
(क) सूरदास (ख) गोविन्द स्वामी (ग) सूरदास (घ) नामदेव

09. कवितावली किसकी रचना है?
(क) सूरदास (ख) तुलसीदास (ग)नाभादास (घ) अग्रदास

10. 'बूझत श्याम कौन तू गोरी' पद है–
(क) मीराबाई (ख) रसखान (ग) सूरदास (घ) तुलसीदास

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न –

01. किस कवि को 'भाषा का डिक्टेटर' कहा गया है ?

02. कृष्ण भक्ति धारा की प्रधान भाषा कौन सी है?

03. सूफी काव्य धारा के किन्हीं दो कवियों एवं उनकी रचना बताएँ ?
04. भक्ति की धारा को दक्षिण से उत्तर की ओर लाने वाले संत का नाम लिखें?
05. संत काव्य धारा में सर्वप्रमुख महत्ता किसे दी गई है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न –

01. संत काव्यधारा की चार विशेषताएँ बताएँ ?
02. पुष्टि मार्ग क्या है, इसके प्रवर्तक का नाम लिखिए।
03. जायसी के पद्मावत काव्य में किसका चित्रण किया गया है, उसकी दो विशेषता बताइए।
04. तुलसीदास के प्रमुख रचनाओं के नाम लिखें ?
05. कबीर के काव्य में 'निर्गुण' किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ?

निबन्धात्मक प्रश्न –

01. अष्टछाप क्या है, इसके प्रमुख कवियों का परिचय दीजिए।
02. रामभक्ति शाखा की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
03. 'कबीर आधुनिक भावबोध के कवि है,' –समझाइए।
04. 'जायसी मूलतः प्रेम के कवि है' कथन पर प्रकाश डालिए।
05. भक्तिकाल के उदय के कारणों को बताइए।

•••